शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

आत्मधर्म

: संपादक : **रामजी माणेकचंद दोशी** वकील

मई : १९५८ ☆ वर्ष चौदहवाँ, वैशाख वीर नि. सं. २४८४ ☆ अंक : १

हे जीव! स्वसमय में प्रवृत्ति कर!

ज्ञान समस्त अचेतन पदार्थों से पृथक् ही है। जिसप्रकार धर्मास्तिकाय अथवा वृक्षादि द्रव्य जीव को जबरन खींचकर चलाते या रोकते नहीं हैं, उसीप्रकार वे पदार्थ ज्ञान को जबरन अपनी ओर न तो खींचते हैं और न रोकते हैं। तो फिर धर्मास्तिकाय अथवा वृक्षादि अन्य पदार्थों की भाँति कर्म भी जीव से भिन्न वस्तु है; इसलिये वे कर्म भी जीव के ज्ञान को कुछ नहीं करते। जब जीव अपने ज्ञानस्वरूप से च्युत होता है, तभी उसे राग-द्वेष-मोह होता है; किन्तु कहीं कर्म उसे राग-द्वेष-मोह नहीं कराते। यदि जीव अपने ज्ञानस्वरूप में रहे तो उसे राग-द्वेष-मोह नहीं होते। ऐसा जानकर हे जीव! तू समय में प्रवृत्ति कर अर्थात् अपने दर्शन-ज्ञान-चारित्रस्वरूप आत्मा को पहिचानकर उसमें एकाग्र हो; और परसमय से निवृत्ति कर अर्थात् कर्मादि का लक्ष छोड़ दे।

(—पूज्य गुरुदेव)

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

[१५७]

एक अंक
चार आना

श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

सत्पुरुष श्री कानजी स्वामी के विहार समाचार

लींबड़ी शहर में जिनेन्द्र पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव निमित्त के उपलक्ष में पूज्य श्री विहार करके राजकोट, बांकानेर, मोरवी, ध्रांगध्रा-सुरेन्द्रनगर लींबड़ी पधारे हैं। वहाँ पंचकल्याणक जिनमहोत्सव भव्य समारोह पूर्वक हो रहा है। अजमेर से भजन मंडली भी आई है। जैन जैनेतर सभी भाईयों का उत्तम सहयोग है। महोत्सव के विवरण आगामी अंक में दिये जायेंगे—

लींबड़ी शहर में प्रतिष्ठा महोत्सव बाद—चूड़ा, राणपुर, बोटाद, बींछिया, गठड़ा, उमराला होकर सोनगढ़ जेठ सुद ६ को पहुँचने का कार्यक्रम है।

ग्राहकों को सूचना

आत्मधर्म का वार्षिक चंदा (लवाजम) चैत्र मास में पूर्ण हो गया है इसलिये कृपया ३) मनी० से शीघ्र भेज दीजिये जिससे वी०पी० खर्च ॥=) की आपको बचत होगी यदि ग्राहक न होना हो तो पत्र द्वारा सूचित करें ताकि संस्था को ॥=) का नुकसान न हो आशा है आप इसमें देरी न करेंगे।

निवेदक—

मैनेजर श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट

सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

आत्मधर्म

सम्पादक : रामजी माणेक चन्द दोशी, वकील

मई : १९५८ ☆ वर्ष चौदहवाँ, वैशाख वीर नि. सं. २४८४ ☆ अंक : १

श्री पद्मनंदी आचार्य कृत श्री पद्मनंदी पंचविंशतिका के
देशव्रतोद्यन नामक अधिकार पर सत्पुरुष
श्री कानजी स्वामी का प्रवचन

देशव्रतोद्योतनम्

(श्रावण वदी १४, मंगलवार, ता० १६-५-५५)

[गतांक १५६ से चालू]

आत्मभान पूर्वक मुनिपणा अंगीकार न किया जा सके तो श्रावक बनना चाहिए।

इस 'पद्मनंदि पंचविंशतिका' शास्त्र के पच्चीस अधिकार में से ७ वें अधिकार में श्रावक के गुणों का वर्णन किया गया है। श्रावक को प्रथम सम्यग्दर्शन प्राप्त करना चाहिए। आत्मा आनन्द-कन्द है, ऐसी श्रद्धा करनी चाहिए और स्वभाव में से मेरी पूर्ण दशा प्रगट होगी—ऐसा निर्णय करना चाहिए। सम्यग्दर्शन उत्पन्न होना ही जैन-कुल में जन्म लेना है। आत्मा पूर्ण ज्ञान और आनन्दस्वभावी है, इस भानसहित वर्तमान रागादि में हेयभाव वर्तते ही सम्यग्दर्शन होता है। सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के पश्चात् उसके रक्षार्थ प्रयत्न करने चाहिए। आत्मा शुद्ध चैतन्यस्वभावी है, उसकी तरफ दृष्टि करके आत्मभानपूर्वक नग्न दिगम्बर बनना चाहिए। मुनिधर्म अंगीकार न किया जा सके तो आत्मा की आंतरिक पुरुषार्थ की पर्याय श्रावक के अनुरूप प्रगट करनी चाहिए।

गाथा-४

सम्प्राप्तेऽत्र भवे कथं कथमपि द्राधीयसाऽनेहसा।
मानुष्ये शुचिदर्शने च महता कार्य तपो मोक्षदम्॥
नो चेल्लोकनिषेधतोऽथ महतो मोहादशक्तेरथ।
सम्पद्येत न तत्तदा गृहवतां षटकर्मयोग्यं व्रतम्॥४॥

दुर्लभ मनुष्य भव में सम्यग्दर्शनपूर्वक श्रावक के षट्कर्म करने चाहिए।

देखो, क्या कहते हैं ? मेरी आत्मा परमात्मा है, ऐसी दृष्टि करनी चाहिए। अनादि से अनंत काल व्यतीत हो गया, उसमें मनुष्य भव अनंत काल में मिलता है। व्यापार, पैसा, जवाहरात, आदि मिलना दुर्लभ नहीं कहलाता। वे तो अनेक बार मिल गए हैं। इस संसार में पुण्य परिणाम से मनुष्य जन्म मिला है। किन्तु पुण्य-पाप मेरे नहीं हैं, शरीर मेरा नहीं है, मैं ज्ञानस्वभावी हूँ—ऐसा सम्यग्दर्शन प्राप्त करना चाहिए। ऐसी प्रतीतिवाले को मुनिदशा अंगीकार करनी चाहिए। यह शरीर क्षणभंगुर है—ऐसा विचारकर केवलज्ञान का निकट कारण चारित्रदशा प्रगट करनी चाहिए। उस अन्तर विकसित अवस्था में बाह्य वस्त्र-पात्र छूटकर दिगम्बरदशा हो जाती है। ऐसा होने में यदि वर्तमान में लज्जा आती हो और तत्परिणामस्वरूप मुनिपणा न अपनायी जा सके अथवा आनन्द की उर्मियाँ आवें—ऐसा पुरुषार्थ न हो और चारित्रमोह के उदय से अस्थिरता-निर्बलता हो, जिनके कारण मुनिपणा न लिया जा सके तो श्रावक के षटकर्म अवश्य करने चाहिए।

धर्मात्मा को जिनेन्द्र भगवान के प्रति बहुमान, विनय और पूजा का भाव आता है।

देव पूजा— आत्मा ज्ञानानंदस्वभावी है—ऐसी दिव्यशक्ति की जिसे प्रतीति हुई हो, उसे जब तक पूर्ण दशा प्राप्त न हो, तब तक जिनेन्द्रदेव की पूजन करनी चाहिए। सम्यक्त्वी श्रावक को उनकी पूजा करने के भाव आते हैं। मुनि भी भावपूजा करते हैं। श्रावक सेवक बनकर पूजा करते हैं। जिसके अंतरंग में ज्ञानस्वभाव का भान है, वह कहता है—हे नाथ! तेरे विरह में अनंत काल बीत गया। हे प्रभु! अब कृपा करो और मेरे जनम-मरण का अन्त कर दो। जन्म-मरण का अन्त अपनी आत्मा से ही होता है किन्तु अपूर्ण अवस्था में भगवान की पूजा का भाव होता है। स्वयंभू स्तोत्र में समंतभद्र आचार्य अनेक प्रकार से स्तुति करते हैं। जिसे आत्मा का भान है, उसे पूर्ण दशा प्राप्त भगवान की स्तुति करने के भाव आते हैं। "हे नाथ! आपको पूर्ण आनन्द मिल गया, आपमें अल्पज्ञता और विकार नहीं रहे, अब करुणा करें।" ऐसे नम्र वचन निकले बिना नहीं रहते। श्री ऋषभदेव भगवान की स्तुति में कहा है—"हे नाथ, आप मुनि बने और तत्पश्चात् मोक्ष पधारे, तब कहते हैं कि आपकी शोभा ही सर्वत्र व्याप्त हो रही थी। नदियों की भी कलकल ध्वनि आपके वियोग में रो रही है तो फिर हम रोवें तो इसमें क्या आश्चर्य ?" इसी प्रकार भक्तो का रोमांच भक्ति में उल्लसित होता है। सम्यग्दृष्टि को साक्षात् परमात्मा और उनकी प्रतिमा के प्रति बहुमान आए बिना नहीं रहता। स्त्री की मृत्यु हो जाने पर अज्ञानी पति उसकी फोटो देखकर उसे याद करता है। किसी की प्रिय स्त्री मर गई थी, उसने मान लिया कि वह मरकर उसी के घर में कामधेनु बनी है।

उसने उस गाय की मृत्यु होने पर उसकी स्मृति में अठारह हजार में मन्दिर बनाया और इसप्रकार याद करने लगा—'हे माता! मैं तुझे भूल गया था, मैं तुझे पहचान नहीं सका, मन्दिर में कामधेनु की मूर्ति रखना तो मूढ़ता है, भ्रांति है। जिससे प्रेम है, उसके प्रति बार-बार प्रेमभाव आए बिना नहीं रहता। जिसे अपनी माता के प्रति प्रेम रहता है, वह चाहता है कि मेरी माँ का नाम रहना चाहिए। अपने दिवंगत पिताजी को लोग याद करते हैं। उसी प्रकार धर्मी को भगवान तीर्थंकर के विरह में उनकी प्रतिमा के प्रति शुभराग आए बिना नहीं रहता। वह समझता है कि देव पूजा है, सो पुण्य है। जिस घर में भगवान की स्तुति, भक्ति नहीं की जाती, वह घर कसाईखाने के समान है।

जो श्रावक छह आवश्यक कर्म नहीं करता, उसके गृहस्थाश्रम को धिक्कार है।

आचार्य पद्मनन्दि ने श्रावकाचार की १५ वीं गाथा में कहा है कि जो मनुष्य, जिनेन्द्र भगवान की भक्ति नहीं करता तथा भक्तिपूर्वक उनकी पूजा, स्तुति नहीं करता, उस मनुष्य का जीवन निष्फल है तथा उसके गृहस्थाश्रम को धिक्कार है। निर्ग्रन्थ वनवासी मुनि भी कहते हैं कि उन्हें धिक्कार है। आगे गाथा १६-१७ में कहा है कि 'भव्य जीवों को प्रातःकाल उठकर श्री जिनेन्द्रदेव तथा गुरु के दर्शन करना चाहिए तथा भक्तिपूर्वक उनकी वन्दना-स्तुति करना चाहिए तथा धर्म शास्त्र सुनने चाहिए। तत्पश्चात् गृह कार्य करने चाहिए। गणधरादि महान् पुरुषों ने धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चार पुरुषार्थों में सर्व प्रथम वीतरागभावरूप धर्म का निरूपण किया तथा उसको मुख्य माना है।'

आगे गाथा १८ वीं में कहा है कि जिस केवलज्ञानरूपी नेत्र से समस्त पदार्थ हाथ की रेखा की तरह प्रगटरूप में दृष्टिगोचर होते हैं—ऐसा वह ज्ञानरूपी नेत्र निर्ग्रनथ गुरु की कृपा से प्राप्त होता है। इसलिए ज्ञान के आकांक्षी मनुष्यों को भक्तिपूर्वक निर्ग्रन्थ गुरु की सेवा, वन्दना आदि करनी चाहिए। आगे गाथा २० में आचार्य ने कहा है कि हमेशा स्वाध्याय करना चाहिए। 'जो मनुष्य उत्तम तथा निष्कलंक गुरु द्वारा रचित शास्त्र नहीं पढ़ते, वे मनुष्य विद्वान होते हुए भी अन्धे माने जाते हैं।' यह कथन अज्ञानी द्वारा कथित या रचित शास्त्र के सम्बन्ध में नहीं है। जो शास्त्र नहीं पढ़ते, अध्ययन नहीं करते, वे अन्धे हैं। अतः यथाशक्ति स्वाध्याय करना चाहिए। किन्तु स्वाध्याय ज्ञानी पुरुषों द्वारा कथित शास्त्रों का ही करना चाहिए।

आगे गाथा २१ वीं में आचार्य ने कहा है कि जो मनुष्य, गुरु के पास रहकर शास्त्र श्रवण नहीं करते हैं और ज्ञान को हृदय में धारण नहीं करते, उनके कान और मन नहीं है—ऐसा मैं मानता हूँ। जैसे चींटी के कान और मन नहीं है, उसी प्रकार उनके नहीं है। कान और मन होते हुए भी अगर उसका सद्-उपयोग न किया तो न होने के समान ही हैं।

गाथा २२ वीं में कहा है कि धर्मात्मा श्रावकों को देशव्रत के अनुसार संयम धारण करना चाहिए, ऐसा करने से व्रत सफल होते हैं। इच्छा की कमी करनी चाहिए व दान देना चाहिए।

गाथा ३१ वीं में कहा गया है कि 'धर्मात्मा गृहस्थों को मुनि आदि उत्तम पात्रों को अपनी शक्ति के अनुसार दान अवश्य देना चाहिए क्योंकि दान दिए बिना गृहस्थाश्रम व्यर्थ है।

गाथा ३४ वीं में आचार्य कहते हैं कि जो समर्थ होते हुये भी आदरपूर्वक यतीश्वरों को दान नहीं देते वे मूर्ख अपने आगामी जन्म में प्राप्त होनेवाले सुख का नाश करते हैं। राग घटाकर मुनि आदि सत्पात्रों को दान देना चाहिए।

इस ग्रन्थ के श्रावकाचार की गाथा ७ वीं इसप्रकार हैं—

देवपूजा गुरुपास्तिः स्वाध्यायः संयमस्तपः।
दानञ्चेति गृहस्थानां षट्कर्माणि दिनेदिने॥

यहाँ आचार्य इन कामों को 'दिने-दिने' करने के लिये कहते हैं। जिस प्रकार खाने-पीने आदि के कार्य प्रतिदिन किए जाते हैं, उसी प्रकार प्रतिदिन दान देना चाहिए।

श्रावकाचार की गाथा ३५ में कहा गया है कि जिस गृहस्थाश्रम में दान नहीं दिया जाता, वह गृहस्थाश्रम पत्थर की नाव के समान है और उस गृहस्थाश्रमरूपी पत्थर की नाव में बैठनेवाले निश्चय ही संसाररूपी समुद्र में डूबते हैं। जैसे पत्थर की नाव डूबती है, वैसे ही वे भी डूब जाते हैं, अर्थात् संसार में भ्रमण करते रहते हैं।

आगे गाथा ३६ में आचार्य कहते हैं कि जिसे धर्म-भावना प्रगट हुई, उसे धर्मी के प्रति प्रीति होनी चाहिए। धर्म धार्मिकों बिना नहीं होता। जो मनुष्य, साधर्मी सज्जनों से शक्ति के अनुसार प्रेम नहीं करते, उनकी आत्मा प्रबल पाप से ढकी हुई है तथा वे धर्म विमुख हैं तथा धर्म के अभिलाषी भी नहीं हैं। इसलिए भव्य जीवों को साधर्मी सज्जनों के साथ अवश्य प्रेम करना चाहिए।

भावार्थ—इस संसार में इस जीव का प्रथम तो निगोदिक पर्यायों से निकलना अत्यन्त कठिन है। फिर वहाँ से निकल भी जाये तो पृथ्वीकाय, जलकाय आदि एकेन्द्रिय पर्याय पावे। एकेन्द्रिय में अनन्त काल व्यतीत हुए बाद कठिनता से कौआ आदि त्रस पर्यायों में उत्पन्न होता है। फिर उन पर्यायों में से निकलकर मनुष्य पर्याय की प्राप्ति कठिन है, और अगर मिल भी जाये तो भगवान द्वारा कहे हुए तत्त्व का श्रवणगोचर होना कठिन है। श्रवणगोचर हो जाये तो सम्यग्दर्शन होना कठिन है और सम्यग्दर्शन हो जाये तो उसकी रक्षा करने में जीव प्रमाद करता है। इससे सम्यग्दर्शन हुआ न हुए के समान है। इसलिये आचार्य उपदेश देते हैं कि अगर सौभाग्य से मनुष्य

भव और सम्यग्दर्शन प्राप्त हो तो उत्तम पुरुषों को प्रमादभाव छोड़कर तप करना चाहिए। तप अर्थात् मुनिपना ग्रहण करना चाहिए। अगर अपनी अस्थिरता या नग्नता की लज्जा के कारण मुनि न हो सके तो श्रावक के छह कर्म अवश्य करने चाहिए; किंतु मनुष्यजन्म और सम्यग्दर्शन व्यर्थ नहीं खो देना चाहिए।

अब बारह व्रतों का वर्णन किया जाता है। सम्यग्दर्शनपूर्वक, षट्कर्म और बारह व्रत होते हैं और वे व्रत गृहस्थों के लिये पुण्य के कारण हैं—ऐसा आचार्य बताते हैं।

गाथा-५

दृङ्मूलव्रतमष्टधा तदनु च स्यात्पञ्चधाणुव्रतं।
शीलाख्यं च गुणव्रतं त्रयमतः शिक्षाश्चतस्त्रः पराः॥
रात्रौ भोजनवर्जनं शुचिपटात्पेयंपयः शक्तितः।
मौनादिव्रतमप्यनुष्ठितमिदं पुण्याय भव्यात्मनाम्॥५॥

श्रावक को आत्मभानपूर्वक बारह व्रत करने का शुभ राग आता है।

देखो, पद्मनिन्द आचार्य स्पष्ट कहते हैं कि धर्मी जीव के १२ व्रत पुण्यकारक हैं, अशुभ से बचने के लिए पुण्यभाव आते हैं। वे पुण्यपरिणाम हैं किन्तु धर्म नहीं हैं। सम्यग्दृष्टि के मद्य, मांस, मदिरा, पाँच उदम्बर फल छोड़ने का भाव होता है, अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्यादि पाँच अणुव्रत धारण करना और दिग्व्रत आदि गुणव्रत तथा देशावकाशिक आदि चार शिक्षाव्रतों के पालन करना तथा रात में स्वाद्य आदि चार प्रकार के भोजन का त्याग करना, स्वच्छ कपड़े से छाना हुआ पानी पीना, तथा शक्ति के अनुसार मौन आदि व्रत धारण करना, इस प्रकार ये श्रावक के व्रत हैं। भली प्रकार किए हुए व्रत भी पुण्य के कारण हैं; इसलिए धर्मात्मा श्रावकों के व्रत का पालन आत्मा के भानपूर्वक होता है। आजकल मुख्य बात तो उड़ गई है और व्यवहार कथन को पकड़ लेते हैं। साथ में सम्यग्दर्शन हो तो व्रत सच्चे व्रत कहलतो हैं, अन्यथा नहीं। अशुभ से बचने के लिए ऐसा शुभराग आता है। चरणानुयोग में, उसका पालन करो—ऐसा कहते हैं।

देशव्रती श्रावक इस प्रकार व्रतों को धारण करता है।

गाथा-६

हन्ति स्थावरदेहिनः स्वनिषये सर्वास्त्रसान् रक्षति।
ब्रूते सत्यमचौर्यवृत्तिमबलां शुद्धां निजां सेवते॥

दिग्देशव्रतदण्डवर्जनमतः सामायिकं प्रौषधं।
दानं भोगयुगं प्रमाणमुररीकुर्याद् गृहीति व्रती॥६॥

श्रावक को त्रस जीवों की रक्षा का भाव आता है।

व्रती श्रावक अपने प्रयोजन के लिये पृथ्वी आदि स्थावर जीवों की हिंसा करता है अर्थात् मारने का भाव होता है, दूसरे को मार सकता हो—ऐसी बात नहीं है। मुनि अवस्था नहीं है, इसलिए श्रावक अवस्था में पाँच स्थावरकाय के जीवों को मारने का भाव आता है तथा द्विइन्द्रिय से संज्ञी पंचेन्द्रिय त्रसजीवों की रक्षा करता है, परजीवों की रक्षा कर सकता हो, यह बात नहीं है, किन्तु उनकी रक्षा का भाव आता है, इसलिए उनकी रक्षा करता है—ऐसा चरणानुयोग में कथन आता है। मेरा स्वभाव वीतरागी है, यह अन्तर्दृष्टि है; राग की उत्पत्ति हिंसा है, इतना होते हुए भी इतना जानते हुए भी बारह व्रत का, श्रावकावस्था में राग आये बिना नहीं रहता। त्रसजीवों की रक्षा करता है अर्थात् त्रसजीवों को मारने का भाव नहीं करता। शास्त्र का कथन समझना चाहिए। आचार्य आगे कहेंगे कि मेरे में सर्वज्ञशक्ति की प्रतीति है जो, थोड़ा रागद्वेष है, उसे भी छोड़ना चाहता हूँ; इसलिए उसे कर्मजनित कह देते हैं। अपने आत्मस्वभाव से हमें विकार नहीं होता किन्तु निर्बलता से हुए विकार त्रिकालिक सबल स्वभाव की दृष्टि द्वारा कर्मकृत कह दिए जाते हैं; इसलिए अपेक्षा समझनी चाहिए। श्रावक के सत्य बोलने, अचौर्य व्रत पालन करने का भाव होता है, परस्त्री गमन का भाव नहीं होता किन्तु अपनी स्त्री के प्रति राग नहीं छूटता। वह दिग्व्रत, देशव्रत, अनर्थदण्डव्रत का पालन करता है।

श्रावक आत्मास्वभाव में स्थिर रहने का प्रयोग करता है।

वह सामायिक करता है। सामायिक, केवलज्ञान और चारित्र प्रगट करने का प्रयोग है। जैसे व्यापार में अभ्यास किया जाता है, परीक्षा करने के लिए लड़के को दुकान पर बैठाते हैं; उसी प्रकार धर्मात्मा भी अभ्यास करता है। आत्मा आनन्दकन्दस्वरूप है, सामायिक में दो घड़ी के लिये उस स्वरूप में स्थिर रहने का श्रावक अभ्यास करता है। स्वरूप में स्थिरता का २४ घण्टे के लिये अभ्यास करना प्रौषधोपवास है। शरीर छूटते समय अन्तिम अभ्यास सल्लेखना है। आत्मा, देह रहित है—ऐसी दृष्टि रखकर दो घड़ी के लिये प्रयोग या अभ्यास करना सामायिक है, अधिक अभ्यास करना प्रौषधोपवास है। एक आसन पर बैठे रहना या सामायिकपाठ मात्र बोल जाना सामायिक नहीं है और मात्र भोजन न करना प्रौषधोपवास नहीं है। श्रावक, आत्मा के भानपूर्वक प्रौषध का अभ्यास करता है।

गृहस्थ श्रावक सच्चे मुनि, साधर्मी, संत आदि को दान देने का भाव करता है। साधर्मी भाई की सेवा करने का भाव आये तो श्रावकत्व सच्चा कहलाता है। श्रावक भोगोपभोग में भी परिमाण करता है। स्वरूप की मर्यादा ध्यान में आवे, इसलिये विशेष राग नहीं हो और राग घटे, तभी श्रावकत्व सुशोभित होता है, अन्यथा नहीं।

गृहस्थ के देव पूजा आदि गुण हैं, उनमें दान सबसे उत्तम गुण है, यह आचार्य बतलाते हैं।

गाथा-७

देवाराधनपूजनादिबहुषु व्यापारकार्येषु च।
पुण्योपार्जनहेतुषु प्रतिदिनं संजायमानेष्वषि॥
संसारावर्णवतारणे प्रवहणं सत्पात्रमुद्दिश्य यत्।
देशव्रतधारिणो धनव्रतोदानं प्रकृष्टो गुणः॥७॥

लोभरूपी कुएँ की कन्दरा में गिरे हुए जीवों के कल्याणार्थ मुनि, दान का उपदेश देते हैं।

पद्मनन्दि आचार्य नग्न दिगम्बरदशावाले हैं। संसारी जीव लोभरूपी कन्दरा में गिर गए हैं, उन पर करुणा करके उनके उद्धार के लिए आचार्य ने दान अधिकार लिखा है। दान अधिकार की चौथी गाथा में कहा है—"अत्यन्त दुर्लभ मनुष्य जन्म पाकर तथा जीवन, यौवन आदि के स्वप्नवत तथा इन्द्रजाल सदृश होते हुए भी जो मनुष्य लोभरूपी कुएँ की कन्दरा में गिरे हुए हैं, उनके उद्धार के लिए करुणा करके यह दान अधिकार कहता हूँ।" लोभी जीव लोभरूपी खाई में गिर गए हैं, उन पर आचार्य करुणा करते हैं। वे कहते हैं कि हमें क्या? किन्तु लोभ में फँसे हुए जीवों के लिए दान अधिकार लिखते हैं। लोग अपनी सन्तान के विवाह में रुपया खर्च करते हैं तो मन्दिर आदि के लिए भी धन खर्च करना चाहिये किन्तु लोभी जीव थोड़ा-सा भी दान नहीं करता।

जिनेन्द्रदेव की पूजा आदि कर्त्तव्यों में दान उत्तम कार्य है।

धनवान और धर्मात्मा श्रावक, श्रेष्ठ पुण्य का संचय करनेवाले जिनेन्द्रदेव की पूजा, पंचकल्याणक प्रतिष्ठा, आदि अनेक उत्तम कार्य सर्वदा करते रहते हैं। स्वभाव पर दृष्टि है, इसलिये दान के शुभराग को संसार समुद्र से पार करने के लिये जहाज कहा है; इसलिये श्रेष्ठ मुनि आदि सत्पात्रों को दान देना चाहिए। दान धर्मात्मा का, श्रावक का उत्तम गुण है।

जो लोभी दान में लक्ष्मी का उपयोग नहीं करता, वह कौए से भी हल्का है।

दान अधिकार में कौए का दृष्टान्त आया है। खिचड़ी पकाते समय जो जलकर बर्तन में चिपक जाती है, वह जला हुआ अंश कौवे को देते हैं तो उसे कौआ अकेला नहीं खाता किन्तु दूसरे कौओं को बुलाकर खाता है। दान अधिकार की ४६ वीं गाथा में कहा है—

''जो लोभी पुरुष, भोग तथा दानरहित धनरूपी बन्धन से बंधा हुआ है, उस कंजूस का जीवन इस लोक में व्यर्थ है क्योंकि उसकी अपेक्षा तो वह कौआ ही अच्छा है जो ऊँचे स्वर से अन्य कौओं को बुलाकर उनके साथ भोजन करता है।'' हे धनाढ्य! इसी तरह आत्मा के गुण जले, तेरी शान्ति जल गई, जिसके फल से कभी पुण्य बंधा और उसके फल में धन मिला। अगर ऐसा धन अकेला खाएगा तो कौऐ से भी गया बीता हो जायेगा, इसलिये राग कम करके दान कर, नहीं तो कौए से भी हल्का हो जाएगा। यह बात वनवासी सन्त कहते हैं। मनुष्य भव और पैसा अधिक समय नहीं रहेगा, इसलिए सभी गुणों में दान उत्तम गुण है।

(बुधवार ता० १७-८-५५)

ज्ञानी का दान, दृष्टिपूर्वक राग कम करने के लिए है।

आत्मा का स्वभाव परमानन्द है, उस पर दृष्टि रखकर श्रावकधर्म का विकास होता है। उसमें दान का विशेष भाव आता है। गृहस्थधर्म में दान उत्तम गुण है। आनन्दस्वभाव पर दृष्टि होते हुए भी पूर्ण आनन्ददशा प्रकट न हो, तबतक धर्मी के देवपूजा आदि का राग आता है। उसके दान में यश या सन्मान प्राप्ति की इच्छा नहीं रहती है। किसान दूसरों को दिखाने के लिए धूल में अनाज नहीं डालता। धरती के भीतर बीज बोया होगा तो मिट्टी को चीरकर फसल उगेगी। कोई मूर्ख दूसरों को दिखाने के लिए धूल पर ही बीज डाल दे तो बरसात की एक ही बौछार में बीज बह जायेगा; धरती के भीतर बीज बोया जाये तो फसल होगी; इसीप्रकार धर्मी जीव को दान का भाव दूसरों को दिखाने के लिए अथवा यश प्राप्ति के लिये नहीं होता। किसान को सन्तोष है और ज्ञान है कि बीज पर मिट्टी पड़ी है तथा अंकुर फूटकर बाहर निकलेंगे; उसी प्रकार धर्म का मूल गहरे वटवृक्ष की तरह है। आत्मा आनन्दकन्द है, उसके स्वभाव पर दृष्टि रखनेवाले को अन्त में केवलज्ञान प्रकट होता है; उस जीव को दान का भाव होता है। उसके ध्रुव स्वभाव के अवलंबन से

अशुभ राग टलता है। अज्ञानी का शुभ छाजा के पौधे की तरह है जो कि अल्पकाल की निश्चित अवधि बाद सूख जायेगा।

ज्ञानी के दानादि शुभराग संसार से पार होने के लिए जहाज के समान है।

जिसे आत्मा का भान हुआ हो, ऐसे धर्मी को धर्मात्मा के लिये दान करने का भाव आए बिना नहीं रहता। उसके भाव दुनिया के हिसाब से नहीं, अपितु आंतरिक ध्रुवस्वभाव के साथ हैं। एक किसान ने अनाज बोया। उसके एक बीज के ९६ मुट्टे निकले थे। उसी प्रकार आत्मा की दृष्टि में सम्पत्ति पड़ी हुई है किन्तु पूर्ण वीतरागता नहीं हुई; इसलिए देव-गुरु-शास्त्र की प्रभावना के लिये दान देता है, वह दुनिया को दिखाने के लिये नहीं। अज्ञानी दस-बीस हजार देता है तो नाम की तख्ती लगाता है और सन्मान की इच्छा करता है। देव-पूजा आदि की भक्ति भी दान ही है उसमें पैसा लगाने का दान भाव बड़ा है, शुभ है।

आत्मभानपूर्वक अशुभ दूर हुआ, इसलिए दान संसार से पार होने के लिए जहाज के समान है।

गाथा -८

सर्वो वांछति सौख्यमेव तनुभृतन्मोक्ष एव स्फुटं।
दृष्टादित्रय एव सिध्यति स तन्निर्ग्रंथ एव स्थितम्॥
तद्वृत्तिर्वपुष्पोऽस्य वृत्तिरशनात्तद्दीयते श्रावकैः।
काले क्लिष्टतरेऽपि मोक्षपदवी प्रायस्ततो वर्तते॥८॥

सभी जीव सुख की इच्छा करते हैं; वास्तविक सुख मोक्षदशा में है।

इस गाथा में निर्ग्रंथ मुनि को दान देने का कथन है। स्त्री-पुत्र के लिये कोई वस्तु लाना अशुभ की भक्ति है। आत्मा ज्ञानानन्दस्वभावी है—ऐसा भान ही निश्चय भक्ति है। देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति शुभभक्ति है। श्रावक को धर्मात्मा के प्रति भक्ति आती ही है। 'धर्म धर्मी के बिना नहीं रहता।' इसलिए धर्मात्मा के प्रति श्रावक को प्रेम होता ही है। कल्याण मार्ग के राही जीव को दान का उत्साह आए बिना नहीं रहता। सभी जीवों की यह इच्छा रहती है कि सुख मिले, किसी को दुख पाने की इच्छा नहीं रहती। वास्तविक सुख मोक्ष में है, न कि धन-दौलत और प्रतिष्ठा में। पूर्ण निर्मलदशा में सुख है, यह निर्णय करना चाहिये। भाइयों में, स्त्री में, कुटुम्ब में, ग्राम में, अथवा पुण्य-पाप में सुख नहीं है। वास्तव में तो मोक्ष अवस्था में ही सुख है।

मोक्षदशा का कारण मुनियों का मोक्षमार्ग है; उसके स्थिर रहने में आहारदान परंपरा कारण है।

श्रावकों को सत्पात्र के लिये दान देना चाहिए। मोक्षदशा की प्राप्ति—पूर्ण आनन्द की प्राप्ति-सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र से होती है। आत्मा पूर्णानन्दस्वभावी है, ऐसी श्रद्धा सम्यग्दर्शन है, ऐसा ज्ञान सम्यग्ज्ञान है, उसमें लवलीनता सम्यक्चारित्र है। ऐसे रत्नत्रय की प्राप्ति निर्ग्रंथ अवस्था में होती है। ऐसे निर्ग्रंथ मुनि को दान देने का प्रकरण चल रहा है। धर्मात्मा जीव को अन्तर्दृष्टि प्राप्त है, इसलिये वह मोक्ष का साधक है। सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकता निर्ग्रंथ अवस्था में होती है। वह निर्ग्रंथ अवस्था शरीर रहे तो रहे, यह निमित्त का कथन है। धर्मी का लक्ष्य अन्य धर्मात्मा के प्रति जाता है। निर्ग्रंथ मुनि का शरीर, चारित्र में निमित्त होता है। अपने ज्ञानस्वभाव से सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्र हो तो शरीर निमित्त कहलाता है। धर्मी की दृष्टि स्वभाव पर है। उग्रदशा में साधना शरीर द्वारा हो, वह निमित्त है। नैमित्तिकदशा प्रकट की, इसलिये शरीर निमित्त कहलाता है। शरीर में निमित्त अन्न है, मुनि के वस्त्र पात्र नहीं होते, ऐसे मुनि के शरीर टिकने में अन्न निमित्त है। अन्न खावे तो शरीर टिके—ऐसा नहीं है किन्तु शरीर रहे तो अन्न निमित्त है और अन्न श्रावक द्वारा दिया जाता है। धर्मी जीव को धर्मात्मा के प्रति उल्लास आए बिना नहीं रहता।

धर्मी 'सच्ची सगाई साधर्मी की' मानता है। स्त्री, पुत्र तो लूटने, खानेवाले हैं। वे कहते हैं कि हमारे लिए दुकान, धन, मकान आदि एकत्रित करते जाओ किन्तु ये सब पाप के निमित्त हैं। (यहाँ धर्मात्मा का धर्मी के लिए दान और प्रेम का प्रकरण चल रहा है) धर्मात्मा को श्रावकों द्वारा आहार प्राप्त होता है। लोभी श्रावक की बात नहीं है। इस दुषम काल में मोक्षपद की प्रवृत्ति प्रायः गृहस्थ द्वारा दिए हुए आहार दानादि से हो रही है, प्रायः कहने का तात्पर्य व्यवहार से है। मोक्षपद निश्चय से तो आत्मा के आश्रय से होता है किन्तु आहार, मुनि के शरीर में निमित्त है और उसमें श्रावकों का आहारदान निमित्त है; इसलिये श्रावकों से मोक्षपद की प्रवृत्ति हो रही है—ऐसा कहने में आता है।

रामचन्द्रजी को सीता के प्रति विशेष प्रेम साधर्मी के रूप में था, सीता को आत्मज्ञान था। सीता का हरण हो जाने पर रामचन्द्रजी जंगल में पूछते हैं 'हे वृक्ष! हे पहाड़! तुमने मेरी सीता देखी क्या?' पक्षियों आदि से भी पूछते हैं। उनका सीता से साधर्मिणी के नाते प्रेम था, धर्म-रस की प्रीति थी। अज्ञानियों को उनका इस प्रकार पूछना पागलपन जैसा लगता है। पीलिया रोग वाले को सफेद पत्थर भी पीले लगते हैं; इसी प्रकार अज्ञानियों को विपरीत लगता है। धर्मात्मा को धर्मी के प्रति

अपनी भूमिका के अनुसार रागभाव आता है। इस अधिकार में श्रावक व्रत का प्रकाश किया है, ऐसा जानकर धर्मात्मा श्रावकों को सदैव सत्पात्रों को दान देना चाहिए।

अब आचार्य औषधिदान की महिमा कहते हैं—

गाथा-९

स्वेच्दाहारविहारजल्पनयतया नीरुग्वपुर्जायते।
साधूनां तु न सा ततस्तदपटु प्रायेण सम्भाव्यते।
कुर्यादौषधपथ्यवारिभिरिदं चारित्रभारक्षमं।
यत्तस्मादिह वर्तते प्रशमिनां धर्मो गृहस्थोत्तमात्॥९॥

श्रावक, मुनियों आदि को औषधदान देते हैं।

धर्मी जीव को धर्मात्मा के प्रति उल्लास आता है। जिस प्रकार अपने लिये औषध लेने का भाव होता है, उसी प्रकार धर्मात्मा के लिये औषधिदान करने का भाव होता है। मुनि इच्छानुसार भोजन या भ्रमण नहीं करता। भोजन की इच्छा होते हुए भी आहार न मिले, ऐसा हो सकता है। ऋषभदेव भगवान को छह माह तक आहार नहीं मिला क्योंकि लोग आहार की विधि नहीं जानते थे। जिनके इच्छानुसार भोजन, भ्रमण तथा भाषण आदि होते हैं, उनके शरीर में रोग होने की सम्भावना कम होती है। गृहस्थ इच्छानुसार आहार लेते हैं, इसलिये सर्दी हो तो अनुकूल आहार ले सकते हैं। गृहस्थ को गरम-गरम भोजन मिल सकता है किन्तु मुनि को ऐसी सुविधायें नहीं मिलती। इच्छानुसार भोजन मिले तो शरीर में रोग नहीं होवे, साथ ही साता का उदय हो, तभी ऐसा होता है; किन्तु मुनि को इच्छानुसार भोजन करने की आज्ञा नहीं है, वे हाथ में आहार लेते हैं। वे विहार भी इच्छानुसार नहीं कर सकते। वर्षा ज्यादा हो, बर्फ गिरता हो तो इच्छानुसार विहार नहीं कर सकते। गृहस्थों को सब प्रकार के साधन सुलभ हैं, किन्तु मुनि इच्छानुसार विहार नहीं करते। मैं ऐसा करूँ—ऐसी इच्छा उनके नहीं होती। वे उपदेश करते हैं किन्तु उपदेश में अपने लिए कुछ नहीं कहते, अतः उनका शरीर ज्यादातर अशक्त रहता है। 'प्रायेण' अर्थात् व्यवहार बतलाया है। धर्मात्मा श्रावकगण, मुनि को उत्तम दवा, पथ्य, निर्मल जल देते हैं और उन्हें चारित्र पालन करने में समर्थ बनाते हैं। जिस समय जड़ की पर्याय या आत्मा की पर्याय हो, उसे बदलने में कौन समर्थ है? नहीं! यहाँ श्रावक की भक्ति का प्रकाश किया गया है। मुनिधर्म की प्रवृत्ति श्रावक से होती है; इसलिये आत्महित के अभिलाषी जीवों को मुनिधर्म की प्रवृत्ति का कारण गृहस्थधर्म धारण करना चाहिए।

परम शांतिदायिनी
अध्यात्म-भावना

भगवान श्री पूज्यपाद स्वामी रचित 'समाधिशतक'
पर परमपूज्य श्री कानजी स्वामी के
अध्यात्म भरपूर-वैराग्य प्रेरक
प्रवचनों का सार

[५]

अब, बहिरात्मपना छोड़कर, अंतरात्मा होकर परमात्मपना प्रगट करने के लिये शिष्य पूछता है कि—प्रभो! इन तीनों का लक्षण क्या है?—उसका उत्तर कहते हैं:—

बहिरात्मा शरीरादौ जातात्मभ्रान्तिरांतरः।
चित्तदोषात्मविभ्रांतिः परमात्माऽतिनिर्मलः ॥५॥

शरीरादि बाह्यपदार्थों में जो 'आत्मा' की भ्रान्ति करता है, वह बहिरात्मा है। और राग-द्वेषादि दोष तथा चैतन्यस्वरूप आत्मा—उनके सम्बन्ध में जो भ्रान्ति से रहित है, वह अंतरात्मा है। जो रागादि दोषों को दोषरूप जानता है और अपने चैतन्यस्वभाव को स्वभावरूप जानता है, जिसे रागादि में 'आत्मा' की भ्रांति नहीं होती और मलिनता से भिन्न अपने शुद्ध स्वभाव को जो निःशंकरूप से जानता है, वह अंतरात्मा है। और जो अत्यंत निर्मल हैं—जिनके रागादि दोष सर्वथा दूर हो गये हैं तथा जिनको सर्वज्ञ परमपद प्रगट हो गया है, वे परमात्मा हैं।—इसप्रकार तीन प्रकार के आत्माओं का स्वरूप जानना।

यह शरीरादि जड़ पदार्थ प्रगटरूप से आत्मा से पृथक् हैं, वे कोई पदार्थ, आत्मा का नहीं हैं, आत्मा से बाहर ही है, तथापि जो उन्हें अपना मानता है, वह जीव बहिरात्मा है। यह शरीर मेरा, मैं पुरुष, मैं स्त्री, मैं सफेद, मैं काला, मैं रागी, मैं द्वेषी, इस शरीर के कार्य मैं करता हूँ और शरीरादि की क्रिया से मेरा हित-अहित होता है—ऐसा माननेवाले जीव बहिरात्मा मिथ्यादृष्टि है, क्योंकि वह अपने आत्मा को बाह्य पदार्थों से भिन्न नहीं जानता, किन्तु उन्हीं को आत्मा मानते हैं।—ऐसे लक्षण से बहिरात्मपने को पहिचानकर, वह छोड़नेयोग्य है।

देह से भिन्न और रागादि से पार मेरा आत्मा ज्ञान-आनन्दस्वरूप है—इस प्रकार जो अंतर में आत्मा के परमार्थस्वरूप को पहिचानता है, वह अंतरात्मा है।—ऐसे लक्षण से अंतरात्मपने को पहिचानकर, वह प्रगट करने योग्य है।

और समस्त दोषों से रहित आत्मा का पूर्ण ज्ञानानन्दस्वरूप प्रगट हो, वह परमात्मदशा है; वह परम उपादेय है।

☆☆☆

(ज्येष्ठ कृष्णा सप्तमी, वीर सं० २४८२)

जीव अनादिकाल से संसार में परिभ्रमण कर रहा है;—उसका कारण क्या, और वह कैसे छूट सकता है, सो बतलाते हैं। आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप है। उसे भूलकर बाह्य में देह-मन-वचन तथा रागादि ही मैं हूँ—ऐसी बहिरात्मबुद्धि के कारण ही अज्ञानी अनादिकाल से संसार में परिभ्रमण कर रहा है। मैं देहादि से तथा रागादि दोषों से भिन्न शुद्ध ज्ञानानंदस्वरूप हूँ—ऐसी आत्मा की पहिचान करके अंतरात्मा होना, सो भवभ्रमण से छूटने का उपाय है।

गृहस्थाश्रम में रहनेवाला जीव भी ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा का भान करके अंतरात्मा हो सकता है। अभी राग-द्वेष होने पर भी, आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप है—ऐसा सम्यग्भान हो सकता है। सम्यक्त्वी धर्मात्मा जीव-अजीवादि तत्त्वों को भ्रान्तिरहित यथार्थरूप से जानता है। जीव को जीवस्वरूप से जानता है और रागादि को रागादिरूप से जानता है; देहादिक को अजीवरूप से जानता है। वह देहादि या रागादि को आत्मा का स्वरूप नहीं मानता है।

★ जीव तो ज्ञान-दर्शन-आनंदस्वरूप है।

★ देहादि तो अजीव हैं, वे जीव से भिन्न हैं।

★ राग-द्वेष-अज्ञान, दुःखरूप भाव हैं, अर्थात् वे आस्रव और बंधरूप हैं।

★ सम्यक् श्रद्धा-ज्ञान-चारित्ररूप भाव जीव को सुखरूप हैं, और संवर-निर्जरा-मोक्ष का कारण हैं।

—इसप्रकार समस्त तत्त्वों को यथावत् जानकर एक ज्ञानानन्दस्वरूप अपने आत्मा में ही जो आत्मबुद्धि करता है, देहादि को अपने से बाह्य जानता है, राग-द्वेष-अज्ञान को दुःखरूप जानकर छोड़ता है और सम्यक् श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र को सुखरूप जानकर उनका आचरण करता है—ऐसे जीव को अंतरात्मा कहते हैं।

ज्ञानस्वरूप जीव और शरीरादि अजीव—यह दोनों पदार्थ भिन्न-भिन्न हैं, तथापि अज्ञानी जीव भ्रान्ति से इन दोनों को एक मानता है। शरीरादि के कार्य आत्मा के मानता है; और आत्मा को शरीरादि बाह्य पदार्थों से हित-अहित मानता है; तथा ज्ञान-वैराग्यरूप भाव आत्मा को हितरूप होने पर भी उसमें वह प्रवृत्ति नहीं करता, उसमें तो अरुचि और आलस्य करता है तथा राग-द्वेष-मोहरूप भाव जीव को अहितरूप होने पर भी उनमें निरंतर प्रवर्तमान रहता है—उनकी रुचि नहीं छोड़ता।—इसप्रकार जो जीव-अजीवादि तत्त्वों के स्वरूप में भ्रांतिपूर्वक वर्तता है, वह जीव **बहिरात्मा** है।

धर्मी तो जानता है कि मैं जड़ से भिन्न हूँ; देहादिक मेरे नहीं हैं, मैं उनका नहीं हूँ; मेरा तो एक ज्ञान-दर्शन लक्षणरूप शाश्वत् आत्मा ही है; उसके अतिरिक्त संयोग लक्षणवाले जो भाव हैं, वे सब मुझसे बाह्य हैं। चैतन्य के आश्रय से ज्ञान-वैराग्यरूप भाव प्रगट हो, वह मुझे हितरूप है, और बाह्य पदार्थों के आश्रय से रागादिभाव हों, वे मुझे अहितरूप हैं।—इसप्रकार जीव-अजीवादि तत्त्वों की प्रतीति करके, जो अन्तर्मुख चैतन्यस्वरूप में वर्तता है, वह **अंतरात्मा** है।

और राग-द्वेष-मोह का सर्वथा क्षय करके केवलज्ञान-केवलदर्शन, अनंत अतीन्द्रिय आनन्द और अनंतवीर्य जिनके प्रगट हो गये हैं, वे **परमात्मा** हैं; उनमें अरिहन्त परमात्मा, सकल परमात्मा हैं और सिद्ध परमात्मा, निकल परमात्मा हैं। चार घातिकर्मों के क्षय से केवलज्ञानादि अनंत चतुष्टय तो दोनों को समान हैं। अरिहन्त परमात्मा को चार अघातिकर्म शेष हैं, उनका प्रतिक्षण क्षय होता जाता है। बाह्य में समवशरणादि दिव्य वैभव होता है; वे परम हितोपदेशक हैं, अभी शरीर के संयोगसहित होने से वे सकलपरमात्मा हैं। सिद्ध परमात्मा आठों कर्मों से रहित, लोक के शिखर पर विराजमान हैं; अनंत आनन्द के अनुभव में कृतकृत्यरूप से सादि-अनंत काल विराजते हैं; शरीरादि का संयोग छूट गया है; इसलिये उन्हें निकल परमात्मा कहा जाता है।

इस आत्मा का स्वभाव सिद्ध भगवान जैसी शक्ति से परिपूर्ण है। उसे भूलकर अज्ञानी जीव, बाह्य विषयों में सुख-दुःख की बुद्धि से दिन-रात जल रहा है। बाह्य में अनुकूल-प्रतिकूल संयोगों का मिलना तो पुण्य-पाप के बंध का फल है। पूर्वकाल में पुण्य-पाप से जो शुभाशुभकर्मों का बंध हुआ, उनके फल में बाह्य में अनुकूल-प्रतिकूल संयोग प्राप्त होते हैं; वे संयोग तो आत्मा से भिन्न हैं, तथापि उन्हें सुख-दुःख का कारण मानना, वह भ्रांति है। उस भ्रांन्ति के कारण अज्ञानी जीव, अपनी आत्मशांति को गँवा बैठा है, और बाह्य विषयों की प्रीति से दुःखी हो रहा है। अतीन्द्रिय चैतन्य

विषय से च्युत होकर बाह्य इन्द्रियविषयों में मूर्च्छित हो गया है; इसलिये बहिरात्मा निरंतर दु:खी है। मेरे परमानन्द की शक्ति मेरे आत्मा में ही भरी है। बाह्य इन्द्रिय विषयों में मेरा सुख नहीं है—ऐसी अंतर-प्रतीति करके धर्मात्मा, अंतर्मुख होकर आत्मा के अतीन्द्रियसुख का स्वाद लेता है। जिस प्रकार लैंडी पीपल के दाने में चौंसठ पुटी चरपराहट की शक्ति भरी है; उसी प्रकार प्रत्येक आत्मा का स्वभाव परिपूर्ण ज्ञान-आनन्दमय है; किन्तु उसका विश्वास करके, उसमें अंतर्मुख होकर एकाग्र हो तो उस ज्ञान-आनंद का स्वाद अनुभव हो। आत्मा से बाह्य विषयों में कहीं आत्मा का आनंद नहीं है। धर्मी अपने आत्मा के अतिरिक्त कहीं बाह्य में स्वप्न में भी आनन्द नहीं मानते हैं। ऐसे अंतरात्मा अपने अंतरस्वरूप में एकाग्र होकर, परिपूर्ण ज्ञान-आनन्द प्रगट करके स्वयं ही परमात्मा होते हैं। सर्वज्ञ होने पर भी, जब तक शरीरादि सहित हैं, तब तक वे अरिहन्त, सकल परमात्मा हैं, और शरीर रहित हो गये हैं, वे सिद्ध, निकल परमात्मा हैं।

—इस प्रकार बहिरात्मा, अंतरात्मा और परमात्मा के स्वरूप का कथन पूरा हुआ।

अनेकान्तमूर्ति भगवान आत्मा की

कुछ शक्तियाँ

[२७]

अनंतधर्मत्व शक्ति

[गतांक नं० १५६ से आगे]

ज्ञानस्वरूप आत्मा में अनंत शक्तियाँ हैं, उनका वर्णन चल रहा है; उनमें 'विलक्षण अनंत स्वभावों से भावित ऐसा एक भाव जिसका लक्षण है—ऐसी अनंतधर्मत्वशक्ति है।' आत्मा स्वयं एक भावरूप रहकर भिन्न-भिन्न लक्षणवाले अनंत धर्मों को धारण करता है—ऐसी उसकी अनंत धर्मत्वशक्ति है। आत्मा में कितनी शक्तियाँ हैं?—तो कहते हैं अनंतः, उन अनंत शक्तियों से अभिनन्दित (अभिमंडित) आत्मा एकस्वरूप है; एक ही स्वरूप अनंत धर्मरूप है:—इसप्रकार अनंत धर्मत्व नाम की एक शक्ति आत्मा में है।

एक आत्मा में एकसाथ अनंत धर्म हैं; उन सभी धर्मों का लक्षण भिन्न-भिन्न है; अपने भिन्न-भिन्न कार्यों द्वारा प्रत्येक गुण भिन्न-भिन्न लक्षित है; जैसे कि—जानना, वह ज्ञान का लक्षण; प्रतीति, वह श्रद्धा का लक्षण; आह्लाद का अनुभव होना, वह आनन्द का लक्षण; अनाकुलता, वह सुख का लक्षण; अखण्डित प्रतापवान स्वतंत्रता से शोभायमानपना, वह प्रभुत्व का लक्षण; त्रिकाल स्थायीपना, वह अस्तित्व का लक्षण; ज्ञात होना, वह प्रमेयत्व का लक्षण—इसप्रकार प्रत्येक शक्ति का भिन्न-भिन्न लक्षण है। इस प्रकार अनंत शक्तियाँ विलक्षण स्वभाववाली हैं; तथापि आत्मा उन अनंत शक्तियों से खंडित नहीं हो जाता; आत्मा तो अनंत शक्तियों से अभेद ऐसे एक भावस्वरूप है। गुण एक-दूसरे भिन्न होने पर भी वस्तु से कोई गुण भिन्न नहीं है। भिन्न-भिन्न अनंत धर्म होने पर भी एक भावस्वरूप रहने की आत्मा की जो शक्ति है, उसका नाम अनंतधर्मत्वशक्ति है।

आत्मा की अनंत शक्तियों में एक शक्ति का जो लक्षण है, वह दूसरी शक्ति का नहीं है।

इसप्रकार अनंत शक्तियाँ विलक्षण स्वभाववाली हैं; किन्तु उनमें विकार लक्षणवाली एक भी शक्ति नहीं है। आत्मा की समस्त शक्तियाँ पर से तो भिन्न हैं और विकार से भी वास्तव में भिन्न हैं।

देखो, यह भेदज्ञान की अपूर्व बात है। प्रत्येक आत्मा अनंत परद्रव्यों से तो पृथक् है और अपने अनंत धर्मों में व्याप्त है। आत्मा के अनंत गुण वस्तुरूप से तो एक है; किन्तु गुणरूप से प्रत्येक का लक्षण भिन्न-भिन्न है। अनंत धर्म परस्पर विलक्षण होने पर भी एक भावस्वरूप हैं; इसलिये ज्ञानलक्षण द्वारा अभेद आत्मा को लक्ष में लेकर एकरूप से अनुभव करने पर उसमें एकसाथ अनंत धर्मों के निर्मल परिणमन का अनुभव होता है।

आठवीं शक्ति में सर्व भावों में व्यापक ऐसे एक भावस्वरूप विभुत्व कहा था। इस सत्ताईसवीं शक्ति में विलक्षण अनंत स्वभावों से भावित ऐसे एक भावस्वरूप अनंत धर्मत्व बतलाया है।

अनंत धर्मों के साधारण, असाधारण तथा साधारणा-साधारण—ऐसे तीन विभाग करके उन तीन प्रकार के धर्मों के धारणस्वरूप छब्बीसवीं शक्ति का वर्णन किया। उसमें तीन प्रकार बतलाकर तीनों प्रकारों को अभेद आत्मा के साथ एकरूप किया; और यहाँ विलक्षण अनंत धर्मों से भावित ऐसे एकभाव स्वरूप अनंत धर्मत्वशक्ति कहकर आत्मा में अनंत धर्मों की अभेदता बतलाई। भिन्न-भिन्न अनंत धर्म और तथापि आत्मा का एकत्व—ऐसा अचिंत्य अनेकांत स्वभाव है। ज्ञान का आत्मा पृथक्, आनन्द का आत्मा पृथक्, श्रद्धा का आत्मा पृथक्—ऐसा नहीं है; आत्मा तो अनंत गुणों के पिण्डरूप है।

छद्मस्थ को भिन्न-भिन्न अनंत धर्म समझ में नहीं आते, किन्तु अनंत धर्मों से अभेद ऐसे एक आत्मा का अनुभव होता है। उस अनुभव में समस्त धर्म आ जाते हैं और युक्ति तथा आगमादि से अनंत धर्मों का निर्णय होता है।

आत्मा पर से भिन्न है; एक समय के विकार से आत्मशक्तियों का स्वभाव भिन्न है और आत्मा की अनंत शक्तियों में भी प्रत्येक का स्वभाव भिन्न है; तथापि आत्मा में वे सर्व शक्तियाँ एक भावरूप होकर विद्यमान है, ऐसा ही आत्मा का स्वभाव है। जिसप्रकार औषधि की एक गोली में अनेक प्रकार की जड़ी-बूटियों का स्वाद निहित है, उसी प्रकार आत्मस्वभाव के अनुभव में अनंत शक्तियों का रस एकत्रित है।—इसप्रकार अनंत धर्मत्व शक्तिवाला एक आत्मा है। उन शक्तियों के वर्णन द्वारा धर्मों के भेद बतलाने का प्रयोजन नहीं है, किन्तु धर्मी के धर्मों द्वारा धर्मी ऐसे अखंड आत्मा को लक्ष बनाना है।

आत्मा में अनंत शक्तियाँ हैं; किन्तु उसमें ऐसी तो कोई शक्ति नहीं है जो पर का कुछ कर दे। आत्मा की शक्तियों द्वारा तो आत्मा लक्षित होता है; किन्तु आत्मा की शक्ति, वह लक्षण और पर उसका लक्ष—ऐसा नहीं होता। इसलिये परलक्ष से आत्मशक्तियों की प्रतीति नहीं होती; अखंड आत्मा के लक्ष से ही उसकी शक्तियों की यथार्थ प्रतीति होती है।

ज्ञान लक्षण द्वारा अनंत धर्मोंवाला आत्मा प्रसिद्ध होता है—उसकी यह बात चलती है। लक्षण उसे कहते हैं कि अनेक पदार्थों में से किसी एक मुख्य पदार्थ की भिन्न पहिचान कराये। समस्त परपदार्थों से भिन्न और अपने अनंत धर्मों का पिण्ड ऐसा आत्मा, ज्ञान लक्षण द्वारा ही पहिचाना जाता है। ज्ञान लक्षण तो वास्तव में विकार से भी आत्मा को भिन्न बतलाता है। 'ज्ञान लक्षण' अनंत धर्मोंवाले आत्मा को लक्षित करता है, किन्तु वह कहीं विकार को लक्षित नहीं करता। आत्मा की अनंत शक्तियों में विकार होने की कोई शक्ति नहीं है। 'वैभाविक' नाम की एक शक्ति है, किन्तु उसका स्वभाव भी कहीं विकार करने का नहीं है। किसी भी विशेष भावरूप से परिणमित होना, वह वैभाविकशक्ति का कार्य है; उसमें भी निर्मल-निर्मल विशेष भावोंरूप परिणमित होना ही उसका स्वभाव है।—ऐसी वैभाविकशक्ति सिद्धदशा में भी है। विकाररूप परिणमन होता है, वह तो ऊपर की (पर्याय की) एक समय की वैसी योग्यता है; किन्तु आत्मा की कोई भी शक्ति ऐसी नहीं है। 'शक्तिमान को भजो'—ऐसे शक्तिमान आत्मा को पहिचानकर उसे भजे (आराधना करे), तो विकार दूर होकर शुद्धता हुए बिना न रहे। एक समय का विकार तो शक्ति रहित है, उसके भजन से कल्याण नहीं होता। किन्तु अनंत शुद्ध शक्तियों से परिपूर्ण ऐसे अपने आत्मस्वभाव की प्रतीति करने से ही धर्म तथा कल्याण होता है।

आत्मा स्वयंसिद्ध तत्त्व है, वह पर से तथा विकार से भिन्न है किन्तु अपने अनंत गुणों से पृथक् नहीं है और अनंत गुणों से अभेद, एक तत्त्व होने पर भी उसके प्रत्येक गुण का स्वभाव भिन्न-भिन्न है।—ऐसे आत्मा की समझ कहो अथवा धर्म कहो; धर्म और आत्मा की समझ—वे दोनों पृथक् नहीं है। आत्मा की सच्ची समझ, वह प्रथम अपूर्व धर्म है; उसके बिना धर्म नहीं होता।

आत्मा अनंत शक्तियों का पिण्ड है; तथापि आत्मा, उसका कोई गुण, अथवा किसी गुण की पर्याय, पर का कार्य नहीं करते। पर की बात तो दूर रही, किन्तु स्वयं अपने में भी एक गुण दूसरे गुण का कार्य नहीं करता। जानना, वह ज्ञानगुण का कार्य है; उस कार्य को श्रद्धादि गुण नहीं करते। अहो! अपना एक गुण अपने ही दूसरे गुण का कार्य नहीं करता, तो फिर अन्य परद्रव्यों का क्या कार्य करेगा? ज्ञान का लक्षण 'ज्ञातृत्व' क्या पुण्य-पाप करेगा?—पर का कार्य करेगा? उसी

प्रकार श्रद्धा का कार्य प्रतीति, आनन्द का कार्य आह्लाद—इसप्रकार प्रत्येक गुण अपना-अपना कार्य करता है; विकार करना अथवा पर का कार्य करना किसी गुण का कार्य नहीं है।

प्रश्न—राग-द्वेष, वह चारित्रगुण का कार्य तो है न?

उत्तर—जिसे गुण-गुणी की एकता की खबर नहीं है—ऐसा अज्ञानी जीव, विकार को अपने गुण का कार्य मानता है; उसे त्रैकालिक स्वभाव तथा क्षणिक विकार का भेदज्ञान नहीं है। ज्ञानी तो गुण-गुणी की एकता की दृष्टि से गुणस्वभाव के आश्रय से निर्मलतारूप ही परिणमित होता है; वहाँ साधक को जो अल्प विकार रहा है, उसे वह स्वभाव की दृष्टि में गुण के कार्यरूप से स्वीकार नहीं करता, किन्तु उसे गुण से भिन्न जानता है। गुण के साथ एकता होकर जितनी निर्मल परिणति हुई, वही गुण का कार्य है। जिसे गुण के शुद्धस्वभाव की खबर ही नहीं है, उसे गुण का शुद्धकार्य कहाँ से होगा? जिसकी दृष्टि विकार पर है, उसकी दृष्टि गुण पर नहीं है।

आत्मा का कोई गुण, पर का कार्य करे—यह तो बात ही नहीं है; और विकार करे, यह बात भी नहीं है। तदुपरान्त यहाँ तो कहते हैं कि एक गुण के निर्मल कार्य को भी दूसरा गुण नहीं करता; क्योंकि प्रत्येक गुण विलक्षण है। अखण्ड आत्मा के आश्रय से उसके समस्त गुणों का निर्मल कार्य एकसाथ होने लगता है। एक वस्तु में विद्यमान अनंत गुणों में भी सर्व गुण परस्पर असहाय हैं; एक गुण दूसरे गुण को सहायक नहीं है; यदि एक गुण दूसरे गुण को सहायक हो तो वस्तु के अनंत गुण सिद्ध नहीं होंगे—गुणों की विलक्षणता नहीं रहेगी। भाई! तेरा एक गुण तेरे दूसरे गुण के कार्य में भी सहायता नहीं करता, तो फिर तेरा आत्मा, पर का कार्य करे—यह मान्यता कहाँ रही? और शरीर या पुण्य तुझे धर्म में सहायक हों—यह बात ही कहाँ रही? तेरा मात्र ज्ञान का विकास भी सम्यक् श्रद्धा में सहायक नहीं होता,—(क्योंकि मात्र ज्ञान के विकास से सम्यक् श्रद्धा नहीं होती); तो फिर राग या बाहर की वस्तुएँ तुझे सम्यक्-श्रद्धा आदि में सहायक कैसे हो सकती है?

जो अनंत धर्मवाले आत्मा को सचमुच मानता है, अपने धर्म में बाह्य वस्तुओं को या राग को सहायक कदापि नहीं मानता, और मात्र एक गुण के आधार से भी धर्म नहीं मानता, अर्थात् भेद पर दृष्टि नहीं रखता, किन्तु अनंत गुण के अभेद पिण्डरूप आत्मा की दृष्टि से उसे पर्याय-पर्याय में धर्म होता है।

आत्मा के अनंत धर्मों में प्रत्येक गुण का लक्षण स्वतंत्र है, तथापि समस्त गुणों का कार्य तो अभेद आत्मा के ही आश्रय से होता है। एक गुण अनंत गुणों से पृथक् होकर अपना कार्य नहीं करता, किन्तु आत्मा का परिणमन होने पर उसके समस्त गुण एकसाथ परिणमित होते हैं।

ज्ञान के लक्षण द्वारा श्रद्धा की पहिचान नहीं होती और श्रद्धा के लक्षण द्वारा ज्ञान की पहिचान नहीं होती; उसी प्रकार अनंत गुण भिन्न-भिन्न लक्षणवाले होने पर भी 'आत्मा' कहने से उसमें एकसाथ समस्त गुणों का समावेश हो जाता है। जो ऐसे अभेद आत्मा में अंतर्मुख होकर अनुभव करे, उसे आत्मा के अनंत धर्मों की प्रतीति हो। आत्मा अनंत गुणों से परिपूर्ण होने पर भी, जो स्वसन्मुख होकर उन्हें सँभाले, उसी के लिये उनका सच्चा अस्तित्व है। जिसे अनंत शक्तिवान आत्मा का निर्णय नहीं है, उसके अनंत शक्तियाँ होने पर भी उनका क्या लाभ ?—उसके लिये तो वे न होने के समान हैं। जिस प्रकार घर में रत्नादि का भण्डार भरा हो, किन्तु उसकी खबर न हो तो वह न होने के समान ही है; उसी प्रकार आत्मा में सिद्ध भगवान जैसी अनंत शक्तियाँ होने पर भी जिसे उनकी खबर नहीं है—उनकी ओर उन्मुख होकर जो आनन्द का अनुभव नहीं करता और मात्र विकार को ही सर्वस्व मानकर उसका अनुभवन कर रहा है, उसके तो वे शक्तियाँ न होने के समान ही हैं—वे शक्तियाँ उसे पर्याय में नहीं उछलतीं। ''अहो'! मेरा आत्मा तो अनंत शक्ति सम्पन्न है; क्षणिक विकार जितना मेरा अस्तित्व नहीं है''—ऐसा जहाँ निर्णय किया, वहाँ स्वसन्मुख अपूर्व पुरुषार्थ से वे शक्तियाँ पर्याय में उछलने लगीं... अनंत शक्तियों का निर्मलरूप से वेदन हुआ... अनंत शक्तिवान भगवान आत्मा प्रकाशित हुआ... तभी अनंत शक्तियों की सच्ची महिमा की प्रतीति हुई। पर्याय में प्रसिद्धि हुई।

अनंत शक्तियों के भिन्न-भिन्न लक्षणों का वर्णन वाणी द्वारा नहीं हो सकता; और विकल्प से अथवा छद्मस्थ के ज्ञान से भी उसे ग्रहण नहीं किया जा सकता; किन्तु अनंत शक्तियों से अभेद एक द्रव्य को ज्ञानलक्षण द्वारा ग्रहण करके उसमें लीन होने पर समस्त शक्तियों को भिन्न-भिन्न लक्षणों द्वारा जाने, ऐसी अपार शक्तिवाला केवलज्ञान विकसित हो जाता है। शक्ति के भेद पर लक्ष है, वहाँ समस्त शक्तियों का भिन्न-भिन्न ज्ञान नहीं हो सकता किन्तु जहाँ भेद का लक्ष छूटकर अभेद आत्मा के अवलंबन से केवलज्ञान हुआ, वहाँ समस्त शक्तियों का भिन्न-भिन्न ज्ञान भी हो जाता है। इसप्रकार अंतर के अभेद स्वभाव का अवलम्बन ही मार्ग है। सम्यग्दर्शन भी अंतर के अभेद स्वभाव के अवलम्बन से ही होता है; सम्यग्ज्ञान भी उसी के अवलम्बन से होता है और सम्यक् चारित्र भी उसी के अवलम्बन से होता है। सब में अंतर्मुखवृत्ति की एक ही धारा है।

इस जीव की परिणति को अनादि संसाररूपी पीहर से सिद्धदशारूपी ससुराल भेजते समय संत उसका दहेज बतलाते हैं।

जिसे आत्मा की लगन लगी है, मोक्ष की लगन लगी है—ऐसे आत्मार्थी मोक्षार्थी जीव को आचार्यदेव आत्मा का वैभव बतलाते हैं। भाई! भिन्न-भिन्न स्वरूपवान अनंत शक्तियों का वैभव तुझमें है; उसे सम्हालकर वह वैभव सिद्धपद में साथ ले जाना है।

पहले जीवत्वशक्ति का लक्षण ऐसा बतलाया कि—आत्मद्रव्य को कारणभूत ऐसे चैतन्यमात्र भाव का धारण करना, सो जीवत्वशक्ति है; इस शरीर को अथवा दस प्राणों को धारण करना, वह आत्मा के जीवत्व का स्वरूप नहीं है; किन्तु शुद्ध चैतन्यप्राण को धारण करना, वह आत्मा के जीवत्व का लक्षण है।

फिर दूसरी चितिशक्ति में कहा है कि—अजड़त्वस्वरूप अर्थात् जिसमें किंचित्मात्र जड़पना नहीं है—ऐसी चितिशक्ति है, अर्थात् परिपूर्ण जानना, वह चितिशक्ति का स्वरूप है;

सुखशक्ति का लक्षण अनाकुलता कहा;

स्वरूप की रचना का सामर्थ्य, वह वीर्यशक्ति का लक्षण कहा;

अखंडित प्रतापवंत स्वतंत्रता से शोभितपना, वह प्रभुता का लक्षण कहा;

प्रकाशशक्ति का लक्षण स्वयं प्रकाशमान विशद स्व-संवेदन कहा;

विलक्षण अनंत स्वभावों से भावित ऐसा एक भाव, वह अनंतधर्मत्वशक्ति का लक्षण कहा;

तथा तद्रूपता और अतद्रूपता को विरुद्ध धर्मत्वशक्ति का लक्षण कहेंगे।

—इसप्रकार प्रत्येक शक्ति विलक्षण है; अर्थात् उनके लक्षण एक-दूसरे से नहीं मिलते। जब अपने गुणों में भी इसप्रकार एक गुण के लक्षण की दूसरे गुण के साथ एकता नहीं है, तो फिर पर के साथ या विकार के साथ एकता कैसे हो सकती है? शक्तियों में तो लक्षण-भेद होने पर भी आत्मस्वभाव की अभेदता की अपेक्षा से वे सर्व शक्तियाँ अभेद है; किन्तु विकार या परवस्तु कहीं आत्मस्वभाव के साथ अभेद नहीं है। आत्मा में अनंत शक्तियाँ होने पर भी उनमें एक भावपना है—ऐसे आत्मा को लक्ष में लेने से विकार या पर उसमें नहीं आते, इसलिये विकार और पर के साथ की एकताबुद्धि नहीं रहती। अनंत शक्तिवान एक स्वभाव में ही एकत्वबुद्धि होकर उसके आश्रय से शक्तियों का निर्मल विकास हो जाता है।

आत्मा में अपनी अनंत शक्तियाँ हैं, उसीप्रकार धर्मास्तिकाय आदि द्रव्यों में भी अनंत शक्तियाँ हैं। अनंत शक्तियों से रहित कोई वस्तु ही नहीं हो सकती। यह तो जैन तत्व का मूल रहस्य है। ऐसे मूल वस्तुस्वरूप के भान बिना धर्म कैसा? और साधुपना कैसा?

'जैन के बेरिस्टर' कहलानेवाले एक व्यक्ति से किसी ने पूछा—'धर्मास्तिकाय में कितने

गुण हैं ?' तो वे बोले कि—'दो' फिर पूछा—'कौन-कौन से ?' तो बोले—'एक अरूपीपना और दूसरा गतिहेतुत्व !' देखो, यह बेरिस्टर !! जिसे जिनेन्द्र भगवान के कहे हुए वस्तुस्वरूप की खबर नहीं है; वह जैन कहलानेयोग्य नहीं है। ऐसे ही दूसरे एक व्यक्ति से किसी ने पूछा कि—'आत्मा का लक्षण क्या ?' तो उत्तर दिया कि—'आत्मा का लक्षण शरीर !' फिर पूछा कि—'आत्मा का गुण क्या ?' तो बोला—'शरीर को बनाये रखना !' देखो यह दशा !! एक व्रत-प्रतिमाधारी से पूछा कि 'आत्मा कैसे रंग का होता है ?'—तो विचारकर बोला कि 'सफेद रंग का !'—शरीर अनंत परमाणुओं से निर्मित है—ऐसा सुनकर एक आदमी ने पूछा कि—'महाराज ! आत्मा कितने परमाणुओं से बना होगा !!' अरे ! प्रतिदिन सामायिक और प्रतिक्रमण करता है, अपने को व्रती या साधु मानता है और तत्त्व का किंचित् भान भी न हो—उसका तो सब थोथा है। भले ही कदाचित् अन्य बातें जानता हो, किन्तु चैतन्यस्वरूप आत्मा को न पहिचानता हो तो उसे जाने बिना धर्म नहीं हो सकता।

अनंत पदार्थों के मध्य में रहने पर भी आत्मा कभी किसी पररूप नहीं होता, और न अपने अनंत धर्मों से कभी पृथक् होता है;—ऐसा अनंत शक्तिवान एक आत्मा है। जगत के छहों प्रकार के द्रव्य, उनके कोई गुण, या उनकी कोई पर्याय कभी पररूप नहीं होते। अन्य वस्तु के द्रव्य, गुण या पर्याय को करे—ऐसी शक्ति जगत के किसी तत्त्व में नहीं है; प्रत्येक द्रव्य अपनी अनंत शक्ति से अपने द्रव्य-गुण-पर्यायरूप से स्थित है। पर के कारण विकार होता है—ऐसा माननेवाला अपने तत्त्व को पर से भिन्न नहीं जानता; तथा विकार को ही आत्मा मानकर उसका अनुभवन करनेवाला अपने शुद्ध अनंत शक्तिसम्पन्न चैतन्यतत्त्व को विकार से भिन्न नहीं जानता। भेदविज्ञानी जीव जानता है कि मुझमें अनंतधर्मत्वशक्ति है अर्थात् मैं अपने एक स्वभावरूप रहकर अनंत शक्तियों को धारण करनेवाला हूँ, वही मेरा स्वतत्त्व है। विकार को या पर को मैं अपने स्वभाव में धारण नहीं करता,—इसप्रकार अनंत धर्मोंवाले शुद्ध चैतन्यतत्त्व को अंतर में देखना, सो सम्यक्ज्ञान है और वह मोक्ष का कारण है।

मंगलाचरण के दूसरे श्लोक में ही आचार्यदेव ने कहा था कि—पर से भिन्न अनंत धर्मस्वरूप ऐसे आत्मतत्त्व को देखनेवाली अनेकांतमयी मूर्ति सदैव प्रकाशमान रहे। ऐसे आत्मतत्त्व को देखनेवाला ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है, वह जयवंत हो, अर्थात् साधकदशा में हुआ सम्यक्ज्ञान अप्रतिहतभाव से आगे बढ़कर केवलज्ञान बने—ऐसी भावना है। प्रत्येक आत्मा में

ज्ञानादिगुण समान होने पर भी, एक आत्मा का जो ज्ञान है, वह दूसरे आत्मा का नहीं है—इस अपेक्षा से उनमें असाधारणपना भी है। प्रत्येक आत्मा के गुण भिन्न-भिन्न हैं; प्रत्येक आत्मा का अस्तित्व भिन्न-भिन्न है। पर से भिन्न तथा अपने अनंत धर्मों के साथ एकरूप—ऐसे आत्मा के अस्तित्व को देखना, वह सम्यक्दर्शन तथा सम्यक्ज्ञान है, वही सच्ची विद्या होने से सरस्वती है।

शक्ति कहो, गुण कहो, स्वभाव कहो, धर्म कहो—वह सब एकार्थ है। एक आत्मा में अनंत गुण हैं; गुण पृथक् और वस्तु एक—ऐसा ही अनेकांतस्वरूप है और वह सर्वज्ञ भगवान ने प्रत्यक्ष देखा है। सर्वज्ञ भगवान जिनदेव के मत के अतिरिक्त अन्य कहीं ऐसा यथार्थ वस्तुस्वरूप है ही नहीं। ऐसा यथार्थ वस्तुस्वरूप अज्ञानी लोगों के ख्याल में नहीं आया, इसलिये एकान्त नित्य या एकान्त अनित्य अथवा ईश्वरकर्ता—ऐसा अनेक प्रकार से विपरीत मान लिया है; और इसीलिये संसार परिभ्रमण है। यहाँ आचार्यदेव ने अनेकांत के वर्णन द्वारा यथार्थ आत्मस्वरूप अद्भुत शैली में प्रस्तुत किया है। आत्मा वस्तुरूप से एक होने पर भी, उसमें अनंत गुण हैं। आनन्द का लक्षण भिन्न, श्रद्धा का भिन्न, ज्ञान का भिन्न—इसप्रकार गुणों के लक्षण भिन्न हैं; किन्तु ज्ञान की वस्तु भिन्न, आनन्द की भिन्न, श्रद्धा की भिन्न; इसप्रकार कहीं भिन्न-भिन्न वस्तुएँ नहीं है; वस्तु तो एक ही है। एकसाथ अनंत गुण-स्वरूप से एक ही वस्तु भासित होती है। यदि एक गुण का लक्षण दूसरे गुणों में आ जाये—तो उस लक्षण की अतिव्याप्ति हो जायेगी और भिन्न-भिन्न अनंत गुण सिद्ध नहीं हो सकेंगे; तथा गुणभेद न हो तो क्षायिक सम्यग्दर्शन होने पर अन्य समस्त गुण पूर्ण शुद्ध क्षायिकभावरूप से प्रगट हो जाना चाहिये; किन्तु ऐसा नहीं होता। साधकदशा में श्रद्धा-ज्ञान-चारित्रादि गुणों के विकास का क्रम होता है, क्योंकि गुणों का लक्षण भिन्न-भिन्न होने से कार्य भिन्न-भिन्न है। और एकान्त से गुणभेद ही है—ऐसा भी नहीं है; वस्तुरूप से अनंत गुणों की अभेदता भी है; इसलिये वस्तु के आश्रय से परिणमन होने पर समस्त गुणों की निर्मलता का अंश एकसाथ विकसित हो जाता है। सम्यक्दर्शन होने पर केवलज्ञान भले ही उसी समय न हो, किन्तु सम्यक्ज्ञान भी न हो—ऐसा नहीं होता।—इसप्रकार समस्त गुणों का एक अंश तो प्रगट हो जाता है। इसप्रकार वस्तुरूप से अनंत गुणों की अभेदता तथा गुणों के लक्षण भेद से भेद—ऐसा ही वस्तुस्वरूप है। इसप्रकार अनंत धर्मस्वरूप आत्मा को पहिचानकर उसका अनुभव करना, वह मुक्ति का कारण है।

आत्मा अनंत धर्मस्वरूप है। उसके स्वभाव में भव नहीं है, वह स्वयं ही अपने को

तारनेवाला देव है; अन्य कोई तारनेवाला नहीं है। प्रत्येक वस्तु को अनादि-अनंत और स्वतंत्र है—ऐसा समझे बिना स्वरूप का भान नहीं होगा। अरे जीव! तुझे अपनी वस्तु का भान नहीं है। तेरी श्रद्धा का भी कोई ठिकाना नहीं है। तेरे देव का स्वरूप क्या है, तेरे गुरु का स्वरूप क्या है, तेरे धर्म का स्वरूप क्या है—उसकी भी तुझे पहिचान नहीं है तो तू किसके बल पर तरेगा? विपरीत मान्यता और कुदेव, कुगुरु, कुधर्म का सेवन तो संसार में डुबानेवाला है। तेरा आत्मा ही तेरी निर्मल पर्यायरूप सृष्टि का सृष्टा होने से तू ही ब्रह्मा है; तेरा आत्मा ही स्वतः तेरा रक्षक होने से तू स्वयं ही विष्णु है; इसके अतिरिक्त अन्य कोई ब्रह्मा या विष्णु तेरा कल्याण करनेवाला, सृष्टा या रक्षक नहीं है। अन्य कुदेवों की तो बात ही क्या! किन्तु सर्वज्ञ जिनेन्द्रदेव भी तेरा कोई धर्म तुझे नहीं दे सकते। भगवान तो ऐसा कहते हैं कि हमारे जैसे ही समस्त धर्म तेरे आत्मा में भी हैं; वह विद्यमान है, उन्हें स्वीकार कर तो तू हमारे जैसा बन जायेगा, तेरा कल्याण हो जायेगा।—ऐसे अपने स्वभाव को जो जीव स्वीकार करे, उसी ने सर्वज्ञदेव को और उनकी वाणी को स्वीकार किया है। जो इससे विपरीत मानता है, उसने सर्वज्ञदेव को अथवा उनकी वाणी को स्वीकार नहीं किया है।

वास्तविक आत्मा क्या वस्तु है, उसके धर्म कैसे हैं,—उसकी जिसे खबर नहीं है, वह जीव मूढ़ता के कारण या तो पुण्य में मोहित हो जाता है, या फिर उसी जैसे अनेक व्यक्ति जिसे मानते हों, उसी को सच्चा मानकर कुमार्ग में फँस जाता है और अवतार को व्यर्थ गँवा देता है। जिस प्रकार—राख तो प्रत्येक घर के चूल्हे में भरी रहती है, किन्तु रत्न तो कहीं बिरले ही होते हैं; उसी प्रकार बाह्य से और राग से धर्म माननेवाले अज्ञानियों की संख्या तो जगत् में भारी है, किन्तु रागरहित चैतन्य रत्न की परख करनेवाले धर्मात्मा जीव जगत् में बिरले ही है; सत्य की अपेक्षा असत्य को माननेवाले मूढ़ जीवों की संख्या अधिक हो, तो उससे कहीं वह सच्चा नहीं हो जाता; क्योंकि सत् को संख्या की आवश्यकता नहीं है, अर्थात् संख्या द्वारा सत्य का माप नहीं निकलता। मनुष्यों की अपेक्षा चींटियों की संख्या अधिक हो तो उससे कहीं चींटियाँ मनुष्यों से बड़ी नहीं हो जातीं। सिद्ध भगवन्तों की अपेक्षा निगोद के जीवों की संख्या अनंतगुनी है, तो क्या उससे सिद्धों की अपेक्षा निगोदिया अच्छे हो गये? नहीं; संख्या पर नहीं देखना है, किन्तु अपना हित कौन से भाव में है, वह देखना है।

जिस भाव में अपना हित हो, वह उत्तम है; फिर भले ही उसे माननेवाले बिल्कुल कम हों। और जिस भाव में अपना हित न हो, वह छोड़नेयोग्य है; फिर भले ही उसे माननेवाले अनंत हों। अपने आत्मा का धर्म करने में तुझे किसी बाह्य वस्तु की आवश्यकता नहीं है; तेरे आत्मा में

विद्यमान अनंत धर्मों का ही तुझे साथ है। इसलिये उनकी प्रतीति एवं श्रद्धा करके उनके साथ एकता कर, तो तेरी पर्याय में अधर्म दूर होकर सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप धर्म हो।

देखो, कुन्दकुन्दकुमार, ग्यारह वर्ष की आयु में गृह-परिवार को छोड़कर वनवासी मुनि हुए थे।

प्रश्न—उन्हें एकाकीपन कैसे अच्छा लगता होगा?

उत्तर—अरे! अकेले नहीं हैं; किन्तु अंतर में अनंत गुणों का साथ है। बाह्य का संग छोड़कर अंतर में आत्मा के अनंत गुणों के साथ गोष्ठी की है; उसमें अपूर्व आनन्द है तो क्यों अच्छा नहीं लगेगा? आनन्द में किसे अच्छा नहीं लगता? आत्मा के अनन्त गुणों के साथ गोष्ठी (एकता) करना, उसमें अनंत आनन्द है, किन्तु अज्ञानी को वह आनन्द भासित नहीं होता; और बाह्य में परवस्तु के साथ गोष्ठी करना, उसमें आकुलता का दुःख है, तथापि उसमें अज्ञानी को सुख भासित होता है। अरे! कैसी विचित्रता है कि—

"अनंत सुख नाम दुःख जहाँ रही न मित्रता! अनंत दुःख नाम सुख प्रेम त्यां, विचित्रता! उघाड न्याय नेत्र को निहाल रे निहाल तूं; निवृत्ति शीघमेव धारी वे प्रवृत्ति बाल तूं।"

आत्मा के स्वभाव में अक्षय अनंत सुख भरा है, तथापि अज्ञानी उसके साथ तो मित्रता नहीं करता; उसके सन्मुख दृष्टि भी नहीं करता; और बाह्य वस्तुओं में अथवा रागादि में अंशमात्र भी सुख नहीं है, उनके लक्ष से तो एकान्त दुःख है, तथापि मूढ़ जीव वहाँ प्रेम करके मित्रता करता है; यह कैसी विचित्रता है!—ऐसी ज्ञानियों को करुणा आती है, इसलिये कहते हैं कि अरे जीव! तू अपने ज्ञानरूपी नेत्रों को खोलकर निहार! स्वभाव में सुख है और बाह्य में कहीं सुख नहीं है—ऐसा तू न्यायपूर्वक समझ; और बाह्य में सुख की मान्यतारूप अज्ञान से तू शीघ्र ही निवृत्ति को प्राप्त हो! अज्ञान की उस प्रवृत्ति को तू जला दे! अपने आत्मा के अनंत धर्मों को पहिचानकर उनके साथ गोष्ठी कर... उनके साथ प्रेम कर... उनके साथ मित्रता कर... उनके आनन्द में केलि कर! स्वभाव के साथ गोष्ठी करे और वहाँ अच्छा न लगे—ऐसा नहीं हो सकता। अनंत संत अपने स्वभाव के साथ गोष्ठी करके उसके आनन्द में केलि करते हुए मुक्ति को प्राप्त हुए हैं; इसलिये रागादि के साथ एकतारूप मित्रता छोड़कर अनंत शक्ति सम्पन्न आत्मा के साथ एकतारूप गोष्ठी कर, जिससे तुझे ज्ञान-आनन्दमय ऐसे मुक्तिपद की प्राप्ति होगी।

—यहाँ सत्ताईसवीं अनंतधर्मत्वशक्ति का वर्णन पूरा हुआ।

मुंबई शहर में श्री सीमंधरादि जिनेन्द्र भगवंतों की मंगल पधरावणी (आगमन) सातिशय हर्ष उत्साह में मग्न जनता ने जिनेन्द्रदेव का परम भक्तिरस द्वारा स्वागत किया।

परमोपकारी पूज्य श्री कहानगुरुदेव के प्रसाद से भारत के अग्रगण्य मुंबई शहर में अपूर्व और भारी धर्म प्रभावना हो रही है। अनेक उत्साहवान मुमुक्षु भक्त लोग वहाँ हैं। अपनी पवित्र भावनावश बहुत धन और श्रम लगाकर जौहरी बाजार के समीप ही मुम्बादेवी मंदिर के बड़े फाटक के सामने विशाल जिनमंदिर संपूर्ण तैयार हो चुका है। जो जैनधर्म के दिव्य पवित्र वैभव का नित्य महोत्सवरूप प्रतीक है [जिसे देखते ही प्रसन्नता होती है।] इस जिनमंदिरजी में विराजमान करने के लिये श्री सीमंधरादिक जिनेन्द्र भगवन्तों की पंचकल्याणक प्रतिष्ठा राजकोट (सौराष्ट्र) में ८ साल पहले हुई थी और वहाँ विराजमान थे। चैत सुदी १० के मंगल दिन उन जिन भगवंतों को खास विधि द्वारा बड़े भव्य स्वागतपूर्वक मुंबई के नये मंदिरजी में विराजमान किये हैं।

उस दिन बम्बई नगरी के आंगन में जिनेन्द्रदेव के पधारने पर भक्तों का उत्साह उमंग अंतर में समावेश न पाकर उछलता था... हजारों मुमुक्षु आतुर नयन द्वारा भगवान की राह देखते-देखते सुशोभित किये गये रास्तों पर टकटकी लगाकर देखा करते थे। भव्य जुलूस सहित भगवन्तों के पधारने पर बड़े हर्ष से भारी जयनाद गूँज रहे थे। निश्चित प्रत्येक रास्ते पर खड़े-खड़े लोक हर्षनाद द्वारा अपनी भक्ति प्रगट कर रहे थे।

अनेक बैन्ड बाजों के मधुर स्वरों से भगवान का स्वागत हो रहा था। स्वागत में तीन हजार उपरांत सभ्यजनों ने उत्साहपूर्वक भाग लिया था। जिसमें मुम्बई नगरी के दिगम्बर जैन समाज उपरांत श्वेताम्बर और स्थानकवासी जैन समाज के बहुत भाइयों ने भाग लिया व कार्यों में सहयोग दिया।

श्री सीमंधरादि भगवंतों की पवित्र मुद्रा अतिशय भव्य, उपशांतरस झरती, अतिशय सौम्य वीतराग भाववाही है; अतः भगवान की मुद्रा का अद्‌भुत दृश्य देख-देखकर मुंबई नगरी के लोग छककर धन्य-धन्यवाद करते थे, और भक्तजन कहते थे कि—अहा!! ऐसे भव्य भगवन्त हमने

कहीं भी नहीं देखे। वीतराग भगवन्त पधारने पर भक्त तो खुश होते ही हैं, परन्तु नगर की जनता भी भगवान को देखकर भारी खुशी प्रगट करके बारंबार दूसरों को दर्शन के लिये कहा करती थी। और हर्ष में मशगूल-जनता के बड़े-बड़े समूह—अनेक समूह का प्रवाह उस अंतिम रात्रि के दस बजे तक भगवान के दर्शन करने के लिये उमड़ रहा था। मुंबई के ठीक मध्य में और जैनों की बस्ती से भरे हुए विभाग में ही यह दिगम्बर जैन मन्दिर है—और इस उत्सव में रात्रि में रोशनी लाइट आदि से सज्ज सुशोभित जिनमंदिर की शोभा अद्‌भुत थी। जिनमंदिर की ऐसी शोभा और जिनभगवन्तों की अद्‌भुत कलापूर्ण आकृति सहित भव्य जिनबिम्बों के दर्शन द्वारा हजारों लोग हर्षावेश से गदगद हो जाते थे। इस जिनमंदिर का उद्‌घाटन वहाँ के दि० जैन मुमुक्षु मंडल के प्रमुख श्री मणिलाल जेठालाल शेठ के द्वारा हुआ था। आपने बहुत हर्ष दिखाया था। इस प्रकार मुंबई में भक्तजनों ने बहुत उत्साहपूर्वक उत्सव को सुशोभित बनाया। और आगामी साल में पूज्य सत्पुरुष श्री कानजी स्वामी के सान्निध्य में भगवान की प्रतिष्ठा का भव्य महोत्सव होने के लिये भक्तगण भावना भा रहे हैं।

मुंबई नगरी में भगवान पधारे, उसके लिये वहाँ के भक्तजनों को अभिनन्दन!! और बड़ी भारी कठिनाइयाँ सहन कर करके अपना पवित्र उत्साह के फलस्वरूप जो जिनमंदिर पूर्ण हुआ उसमें सहयोगदाता उत्साही मंडल को हार्दिक धन्यवाद!

चैतन्य रत्न की परीक्षा

जौंहरी को इनाम

(मंगसिर कृष्णा षष्ठी के दिन फेदरा ग्राम में पूज्य गुरुदेव का प्रवचन)

[तत्त्वज्ञानतरंगिणी : अध्याय ५, श्लोक १]

भगवान तीर्थंकरदेव कहते हैं कि—इस जीव ने संसार के परिभ्रमण में सबकुछ जाना किन्तु चैतन्यस्वरूप आत्मा को नहीं जाना। रत्नों की परख की, किन्तु इस देह में विद्यमान चैतन्य रत्न की परख नहीं की, इसलिये यहाँ कहते हैं कि—

रत्नानामौषधीनां वसनरसरुजामन्नधातुपलानां,
स्त्री भाश्वानां नराणां जलचरवयसां गोमहिष्यादिकानां।
नामोत्पत्त्यर्थतार्थान् विशद मतितयाज्ञातवान् प्रायशोऽहं।
शुद्धं चिद्रूपमात्रं कथमहह निजं नैव पूर्वं कदाचित्॥१॥

जिज्ञासु जीव विचार करता है कि अरे! इस संसार में परिभ्रमण करते हुए मैंने पूर्वकाल में रत्न, औषधि, सिंह-बाघ-हाथी-घोड़ा-मगरमच्छ, चाँदी-सोना आदि की पहिचान की, किन्तु जगत में श्रेष्ठ ऐसे अपने चैतन्यरत्न को कभी नहीं पहिचाना। मेरे लिये इस जगत में हीरा-रत्न आदि कोई पदार्थ अपूर्व नहीं है; किंतु मेरा आत्मा ही मेरे लिए अपूर्व पदार्थ है—ऐसा विचार करके जिज्ञासु आत्मा अपने शुद्ध चैतन्यरत्न की प्राप्ति का उपाय करता है।

देखो, एक दृष्टान्त आता है:—किसी नगर में एक वृद्ध जौहरी था; वह जवाहिरात की परीक्षा में बहुत होशियार था। एक बार एक परदेशी जौहरी अत्यन्त मूल्यवान रत्न लेकर आया और वहाँ के राजा से कहा कि—आप अपने यहाँ के जौहरियों से इस रत्न का मूल्यांकन कराइये। राजा ने जौहरियों को बुलाकर आदेश दिया; किन्तु कोई उस रत्न का मूल्यांकन न कर सका। अन्त में राजा ने उस वृद्ध जौहरी को बुलवाया तो उसने बराबर मूल्यांकन किया; इसलिये राजा ने प्रसन्न होकर उसे इनाम देने के लिये मंत्री को आज्ञा दी। मंत्री ने कहा कि दूसरे दिन इनाम की घोषणा करेंगे। रात के समय मंत्री ने उस जौहरी को बुलाकर पूछा कि जौहरी जी! आप इन रत्नों की परीक्षा करना तो

सीखे, किन्तु इस देह से भिन्न चैतन्य रत्न को कभी पहिचाना है ? जौहरी बोला, नहीं; मुझे चैतन्य रत्न की परीक्षा करना नहीं आता। मंत्री बोला; अरे जौहरी! तुम अस्सी वर्ष के हो गये, मृत्यु का समय निकट आ गया और इस मनुष्य भव में तुमने कुछ नहीं किया! मोतियों और रत्नों की परख की किन्तु चैतन्यरत्न की परीक्षा नहीं की तो यह अवतार पूरा होने पर आत्मा का डेरा कहाँ होगा! ऐसी सीख देकर उस समय जौहरी को विदा कर दिया और दूसरे दिन दरबार में आने को कहा।

दूसरे दिन दरबार लगा है; राजा और मंत्री बैठे हैं; जौहरी भी आये हैं। राजा ने मंत्री को आज्ञा दी कि अब इन जौहरीजी के इनाम की घोषणा करो। मंत्रीजी ने खड़े होकर कहा कि महाराज! इन जौहरीजी को मैं सात जूते मारने के इनाम की घोषणा करता हूँ! मंत्री की बात सुनकर राजा सहित सारी सभा आश्चर्य-चकित हो गई..... उसी समय जौहरी स्वयं खड़ा हुआ और हाथ जोड़कर राजा से कहने लगा कि महाराज! जो कुछ मंत्री जी कहते हैं, वही सच है। अरे! मुझे सात नहीं किन्तु चौदह जूते मारना चाहिये... जौहरी बात सुनकर सबको विशेष आश्चर्य हुआ। अन्त में जौहरी ने स्पष्टीकरण किया कि—हे राजन्! मंत्रीजी के कथनानुसार मैं जूतों के योग्य हूँ; क्योंकि मैंने अपना जीवन आत्मभान के बिना यों ही गँवा दिया। मैंनें इस जड़ हीरे को परखने में जीवन बिना दिया, किंतु अपने चैतन्य रत्न की कभी परख नहीं की। यह भव पूरा होने पर मेरे आत्मा का क्या होगा ? इसका मैंने कभी विचार नहीं किया। मंत्रीजी ने मेरे लिये सात जूतों के इनाम की घोषणा करके मुझे आत्महित के लिये जागृत किया है, इसलिये वे मेरे गुरु के समान हैं।

यहाँ आत्मार्थी जीव विचार करता है कि—अरे! मैंने रत्नादि की परख की, किन्तु चैतन्य रत्न को नहीं पहिचाना। देखो, जो आत्मार्थी हो—जिसे आत्मप्राप्ति की लगन हो—ऐसे जीवों को संत महात्मा कहते हैं कि अरे जीव! तू सुन! यह तेरी कथा कही जा रही है। तेरा आत्मा संसार में किसलिये दु:खी हो रहा है और वह दु:ख कैसे दूर हो सकता है, वह मैं तुझसे कहता हूँ।

यह चैतन्य-हीरा क्या वस्तु है, उसका भान न करे और गले में सत्रह लाख का हीरों का हार पहिना हो तो, वे हीरे कहीं मृत्यु के समय शरणभूत नहीं होते। जीव को शरणभूत तो एक सम्यक्दर्शन रत्न है। उस रत्न के सिवा करोड़ों-अरबों के रत्न भी अनंत बार प्राप्त हो चुके हैं, किन्तु वे कोई शरणभूत नहीं हैं।

भाई! जगत में तुझे आत्मज्ञान के बिना अन्य कोई शरणभूत नहीं है। देखो, इस जगत में पैसादि का संयोग तो पूर्व पुण्य-पाप के अनुसार होता है। वर्तमान में कोई जीव महापापी हो, दंभी

हो, तथापि पूर्व-प्रारम्ब्ध से लाखों रुपये कमाता हुआ सुखी दिखाई देता है। और कोई जीव सरल हो, पाप से डरनेवाला हो, तथापि पूर्वभव के अशुभ प्रारब्ध के कारण उसे वर्तमान में भरपेट भोजन भी नहीं मिलता। भाई! यह सब तो पूर्वप्रारब्ध के अनुसार प्राप्त होता है; किन्तु यह आत्मा कहीं प्रारब्ध से प्राप्त नहीं होता। स्वयं सत्समागम से चैतन्यस्वरूप को समझने का प्रयत्न करे तो आत्मा का भान होता है। ऐसे आत्मा का भान करना ही जीव को शरणभूत है; उसके अतिरिक्त लक्ष्मी के ढेर अथवा अन्य कोई शरणभूत नहीं है।

चैतन्यस्वरूप को भूले हुए जीव पुण्य-पाप से चार गति में परिभ्रमण करते हैं। जो पुण्य करते हैं, वे देव और मनुष्य होते हैं और जो तीव्र माया-कपट करते हैं, वे तिर्यंच-पशु होते हैं और तीव्र हिंसादि पाप करनेवाले जीव मरकर नर्क में जाते हैं। चैतन्य का भान करनेवाला जीव चार गति के परिभ्रमण से छूटकर सिद्धि प्राप्त करता है।

इस शरीर की नाड़ी की गति कैसी चलती है और कितनी धड़कनें होती हैं—उसकी परीक्षा करते हैं लेकिन अंतर में आत्मा विद्यमान है, उसकी गति का जीव विचार भी नहीं करता। किस जमीन में कैसा अनाज उत्पन्न होगा—उसका विचार करते हैं किन्तु मैं जिन भावों का सेवन कर रहा हूँ, उनका फल आत्मा में कैसा आयेगा—उसका विचार नहीं करते।

छाया पूरी होते ही जिस प्रकार धूप शुरु होती है; उसी प्रकार यह भव पूरा होने पर जीव को दूसरे भव का प्रारम्भ होता है। उस दूसरे भव में मेरा क्या होगा—उसका विचार भी जीव नहीं करता! देखो, बीस वर्ष का आदमी ऐसा विचार करता है कि मैं सौ वर्ष जिऊँगा तो शेष अस्सी वर्ष के लिये मुझे इतने खर्च की आवश्यकता होगी और उसके लिये मैं ऐसा करूँगा।—इसप्रकार इस भव में अस्सी वर्ष की सुविधाओं का विचार करता है, किंतु यह भव पूरा होने पर दूसरे ही क्षण दूसरा भव प्रारम्भ होगा; उसमें मेरा क्या होगा—उसका विचार नहीं करता। वह भव किसका है? इस जीव का ही वह भव है; तो फिर उस भव में मेरा क्या होगा—उसका हे भाई! जरा विचार तो कर! यदि इस भव के बाद आनेवाले दूसरे भव का यथार्थ विचार करे तो क्षणिक देहदृष्टि छूटकर चैतन्य की दृष्टि हो जाये। भाई! यहाँ थोड़े समय की थोड़ी-सी प्रतिकूलता में भी आकुल-व्याकुल हो जाता है तो फिर दूसरे सम्पूर्ण भव में तेरा क्या होगा?—उसका तो विचार कर! यदि इस भव में आत्मा की दरकार नहीं करेगा तो तेरा आत्मा अनन्त संसार में कहीं खो जायेगा। इसलिये भाई! यदि तुझे सचमुच दुःख अच्छा न लगता हो तो इस देह से भिन्न आत्मा को सत्समागम द्वारा पहिचान।

गोसलिया नाम का एक वणिकपुत्र देहात में रहता था। भोला भाला था, शहर में माल लेने गया.... शहर की भीड़ में उसे ऐसी भ्रमणा हो गई कि ''मैं इस भीड़ में खो गया हूँ;'' इसलिये शहर में चारों ओर घूम-घूमकर स्वयं अपने को ढूँढ़ने लगा... उसी प्रकार यह भोला अज्ञानी जीव स्वयं अपने स्वरूप को भूलकर अपने को बाह्य में ढूँढ़ता है। उसे ज्ञानी समझाते हैं कि अरे भाई! तेरा आनन्द तुझमें भरा है, तू कहीं खो नहीं गया है। तू स्वयं ज्ञान-आनंदस्वरूप आत्मा है, किंतु भ्रमणा से स्वयं अपने को भूलकर संसार में भटक रहा है; इसलिये अपने आत्मा को तू चैतन्य चिह्न द्वारा पहिचान।

अरे! ऐसा अवतार पाकर जीवों को आत्मा का स्वरूप समझने के लिये अवकाश नहीं मिलता। यह शरीर तो आज है और कल नहीं है; शरीर सदैव रहनेवाला नहीं है; इसलिये आत्मा का हित कैसे हो—वही कर लेने योग्य है।

यहाँ सोनगढ़ में एक शारदा बहिन नाम की महिला थीं। जब उनके मरने का समय आया, तब उन्हें समझा रहे थे कि आत्मा ज्ञान-दर्शन-आनन्दस्वरूप है। वे भी समझदार थीं। कहती थीं कि हाँ.... यह देह तो आज है और कल नहीं है। ऐसी बातचीत चल रही थी कि पन्द्रह मिनट में तो उनका शरीर छूट गया। चैतन्य की जागृति नहीं छूटी, इस प्रकार क्षणभर में यह शरीर छूट जाता है, इसलिये देह से भिन्न ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा क्या वस्तु है, उसका भान करना चाहिये। आत्मा के भान बिना जीव ने सब कुछ किया किन्तु उसके परिभ्रमण का अंत नहीं आया। इसलिये हे जीव! यदि आत्मा का भान करे तो तेरे भव भ्रमण का अंत आये और मुक्ति हो।

सत्धर्म प्रणेता पूज्य सत्पुरुष श्री कानजी स्वामी की ६९ वीं जन्म जयन्ती सुरेन्द्रनगर में महान उत्साह पूर्वक मनाई गई

अहो! अपने पुनीत प्रभाव द्वारा जिन्होंने अनेक मुमुक्षुओं को मोक्षमार्ग में प्रेरित किया है... और भ्रष्ट तथा अन्य अनेक जीवों को वात्सल्यपूर्वक पुनः सन्मार्ग में दृढ़रूप से स्थापित किया है—ऐसे इन त्रिकाल मंगलस्वरूप पवित्र आत्मा पूज्य श्री कानजी स्वामी की पुनीत शरण में रहकर अपूर्व आत्मकल्याणक की उपासना करते हुए मुमुक्षुजनों के हृदय आनंद से अति उल्लसित होते हैं और उनके चरणों में मस्तक झुक जाता है।

हे कृपानिधि! आप आत्मार्थी जीवों के हृदय के आराम और जीवन के आधार हो... घोर अंधकार में भटकते हुए अनेक जिज्ञासु जीवों को कल्याणमार्ग की पगडंडी आपके ही पुनीत प्रताप से प्राप्त हुई है... हम मुमुक्षुओं के जीवन में आपका महान उपकार है... सर्व मंगल प्रसंगों में आपका ही महान उपकार है... आप हमारे आत्मोद्धारक हैं... इसलिये हमारे अंतर में से ध्वनि उठती है कि—

'स्वति श्री सद्गुरवे'

'चैतन्यभानु का उदय'

[वैशाल शुक्ला २]

(१) आज, भव्यजीवरूपी कमलों को विकसित करनेवाले चैतन्य भानु का उदय हुआ...

(२) सूर्य उदित होकर रात्रि के अंधकार का नाश करे, उससे पूर्व तो अज्ञान अंधकार का नाश करनेवाले चैतन्य भानु का उदय हुआ...

(३) भव्यजीवों के संसार-समुद्र को सुखा देनेवाले उग्र चैतन्य भानु का उदय हुआ...

(४) अज्ञान-अंधकार में भटकनेवाले जीवों को मुक्तिमार्ग के प्रकाशक चैतन्य भानु का उदय हुआ...

(५) जैन शासनरूपी आकाश में एक जगमगाते हुए चैतन्य भानु का उदय हुआ...

हे साधर्मी बंधुओं...!

(१) चलो! उस चैतन्य भानु की दिव्य किरणों को झेलकर आत्मकमल को विकसाएँ...

(२) चलो! उस चैतन्य भानु के दिव्य तेज को झेलकर अज्ञान-अंधकार को मिटाएँ...

(३) चलो! उस चैतन्य भानु के दिव्य प्रताप को झेलकर भवसमुद्र को सुखा दें...

(४) चलो! उस चैतन्य भानु के दिव्य प्रकाश में मुक्तिमार्ग पर गमन करें...

प...ह...ले

'ज्यां जोउं त्यां नजरे पड़तां रागने द्वेष हा! हा।
ज्यां जोउं त्यां श्रवणे पडती पुण्य ने पाप गाथा।
जिज्ञासुने शरणस्थल क्यां? तत्त्वनी बात क्यां छे?
पूछे कोने पथ पथिक ज्यां आंधला सर्व पासे।'

अ...ब

'ज्यां जोउं त्यां नजरे पडतो शुद्ध आत्मा ज आहा!
ज्यां जोउं त्यां श्रवणे पडती शुद्ध आत्मानी वार्ता।
जिज्ञासुने शरणस्थल ह्यां, तत्त्वनी वात ह्यां छे,
पूछे आवी पथपथिक सौ ज्ञानीओ छे ज पासे।'

अहो! अहो! श्री सद्गुरु!

'स्वच्छंद, मत आग्रह तजी, वर्ते सद्गुरु लक्ष
समकित तेने भाखियुं, कारण गणी प्रत्यक्ष।'

'जिसे आत्मस्वरूप प्राप्त है, प्रगट है, उस पुरुष के बिना अन्य कोई उस आत्मस्वरूप का कथन करने योग्य नहीं है; और उस पुरुष से आत्मा जाने बिना दूसरा कोई कल्याण का उपाय नहीं है; उस पुरुष से आत्मा जाने बिना 'आत्मा जाना है'—ऐसी कल्पना मुमुक्षु जीव को सर्वथा त्याग कर देना चाहिए।'

'आत्मज्ञान समदर्शिता, विचरे उदय प्रयोग,
अपूर्व वाणी परमश्रुत; सद्गुरुलक्षण योग्य।'

सुरेन्द्रनगर (सौराष्ट्र) शहर में वैशाख सुद-२ को पूज्य परम उपकारी गुरुदेव की ६९ वीं जन्म-जयंती का भव्य उत्सव मनाया था, शहर की जनता तथा मुमुक्षुजनों द्वारा बड़े समारोहपूर्वक भक्ति द्वारा पूज्य स्वामीजी का गुणानुवाद कर भारी हर्षपूर्वक अभिनंदन करने में आया था, और दूर-दूर बाहर गाँव से भक्तिरस से भरे हुए अभिनंदन के संदेश बड़ी संख्या में आये थे।

अहो ऐसा है मेरा आत्मा

अरे जीव!

तू बाह्य विषयों में सुख मानकर वहीं आसक्त होता है, किन्तु 'आत्मा' भी एक विषय है, उसे तू क्यों भूल जाता है? जिसे लक्ष में लेने से अतीन्द्रिय-आनन्द का वेदन हो—ऐसे परम शांत आनन्दस्वरूप स्वविषय को छोड़कर दु:खदाता ऐसे परविषयों में ही तू कहाँ आसक्त हो रहा है!!

अरे भाई!

अब अपने स्व-विषय की ओर देख... ऐसे महान विषय को भूल न जा... सर्वोत्तम एवं सुखदायी ऐसे स्व-विषय को छोड़कर अध्रुव, अशरण और दु:खदायी ऐसे परविषय का कौन आचरण करता है?

इस स्व-विषय में एकाकार होते ही तुझे ऐसा लगेगा कि—

''अहो! ऐसा है मेरा आत्मा!''

और फिर इस स्व विषय के अतीन्द्रिय आनंद के स्वाद में जगत के सर्व विषय तुझे अत्यंत तुच्छ भासित होंगे। (रात्रिचर्चा से)

परमपूज्य श्री कानजी स्वामी के आध्यात्मिक वचनों का अपूर्व
लाभ लेने के लिये निम्नोक्त पुस्तकों का—

अवश्य स्वाध्याय करें

मूल में भूल	।।।)	ज्ञानस्वभाव ज्ञेयस्वभाव	२॥)
श्री मुक्तिमार्ग	॥=)	सम्यग्दर्शन	१॥=
श्री अनुभवप्रकाश	॥)	द्वादशानुप्रेक्षा (स्वामि कार्तिकेयानुप्रेक्षा)	२)
श्री पंचमेरु आदि पूजासंग्रह	।।।)	जैन तीर्थ पूजा पाठ संग्रह कपड़े की जिल्द	१।=)
समयसार प्रवचन भाग २	५।)		
समयसार प्रवचन भाग ३	४॥)	भेदविज्ञानसार	२)
प्रवचनसार	५)	अध्यात्मपाठसंग्रह	५)
अष्टपाहुड़	३)	समयसार पद्यानुवाद	।)
चिद्विलास	१=)	निमित्तनैमित्तिक संबंध क्या है ?	=)
आत्मावलोकन	१)	स्तोत्रत्रयी	॥)
मोक्षमार्ग-प्रकाशक की किरणें प्र०	१।=)	लघु जैन सिद्धांत प्रवेशिका	=)
द्वितीय भाग	२)	'आत्मधर्म मासिक' लवाजम-	३)
जैन सिद्धांत प्रश्नोत्तरमाला प्र०	॥-)	आत्मधर्म फाइलें १-२-३-५-६-७-८-१० वर्ष	३।।।)
द्वितीय भाग	॥-)		
जैन बालपोथी	।)	शासन प्रभाव	=)

हिन्दी आत्मधर्म की फाइलें

वर्ष १, २, ३, ५, ६, ७,, ८, १० यह आठ फाइलें एक साथ
लेने वालों को ३०-०-० के बदले २०-०-० में दी जायेंगी।

[डाकव्यय अतिरिक्त]

मिलने का पता—
श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

मुद्रक—नेमीचन्द बाकलीवाल, कमल प्रिन्टर्स, मदनगंज (किशनगढ़)
प्रकाशक—श्री जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट के लिये—नेमीचन्द बाकलीवाल।